अर्थ-शास्त्र परिचय

(हाई स्कूल कॉमर्स के लिए)

राजेन्द्रलाल श्रीवास्तव एम० ए०

अर्थ-शास्त्र परिचय

(हाई स्कूल कॉमर्स के लिए)

लेखक

राजेन्द्रलाल श्रीवास्तव एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर हरिश्चन्द्र डिग्री कालेज

बनारस

प्रकाशक

विद्यार्थी-प्रकाशन

१ धर्म्म कूप, बनारस

प्रथम संस्करण] २०१० [मूल्य १॥)

वक्तव्य

आज-कल सारे संसार में जिस सभ्यता का इतना अधिक प्रसार देखने में आता है, वह मूलतः आर्थिक ही है। सभी जातियों और देशों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में अर्थ का महत्त्व दिन-पर-दिन इतना अधिक बढ़ता जा रहा है कि आज-कल का युग ही अर्थ-प्रधान युग कहलाने लगा है। ऐसे समय में प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अर्थ-शास्त्र के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का ठीक और पूरा परिचय प्राप्त करे। कदाचित् इसी आवश्यकता का ध्यान रखकर हमारे राज्य में हाई-स्कूल तक की परीक्षा के लिए अर्थ-शास्त्र भी अध्ययन का एक विषय रखा गया है। प्रस्तुत पुस्तक हाई-स्कूल परीक्षा में कॉमर्स या वाणिज्य-शास्त्र का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गई है।

इस पुस्तक में अर्थ-शास्त्र के उन सभी मुख्य-मुख्य विषयों का विवेचन किया गया है, जिनका निर्देश इस राज्य के हाई-स्कूल, इन्टर-बोर्ड ने अपने सिलेबस में किया है। पुस्तक में सब बातें, जहाँ तक हो सका है, बहुत ही स्पष्ट रूप से, शुद्ध और सरल भाषा में, समझाई गई हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में अभ्यास के लिए कुछ प्रश्न और संकेत रूप में उनके उत्तर भी दे दिये गये हैं। कारण यह है कि मेरा अनुभव है कि विद्यार्थी अपने प्रश्नों के उत्तर तो अच्छी तरह जानते हैं, पर साधारणतः यह नहीं जानते कि किस प्रश्न का उत्तर किस तरह देना चाहिए। ऐसे विद्यार्थी इस पुस्तक के द्वारा यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि परीक्षा के समय प्रश्नों के उत्तर किस प्रकार देने चाहिएँ। इस पुस्तक को विद्यार्थियों के

लिए परम उपयोगी बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। यदि इस पुस्तक का विद्यार्थियों और शिक्षकों में उचित आदर हुआ तो आगे इन्टर और बी० ए० के लिए भी इसी प्रकार की परिचयात्मक पुस्तकें प्रस्तुत करके शैक्षणिक जगत् को भेंट की जायँगी।

मैं अपने आदरणीय गुरु तथा अपने कालेज के प्रिन्सिपल श्री वीरेश्वर बनर्जी तथा अपने परम प्रिय मित्र श्री कृष्णकुमार शाह का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिनसे मुझे यह पुस्तक प्रस्तुत करने में विशेष रूप से प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

काशी
१ जूलाई १९५३

राजेन्द्रलाल श्रीवास्तव

विषय-सूची

१. विषय-प्रवेश ... ... १—१९

अर्थ-शास्त्र की परिभाषा—अध्ययन का विषय धन है या मनुष्य—अर्थ-शास्त्र के विभाग—अर्थ-शास्त्र के विभागों का पारस्परिक सम्बन्ध—अर्थ-शास्त्र की विषय-सामग्री—अर्थ-शास्त्र की सीमाएँ—अर्थ-शास्त्र विज्ञान है अथवा कला—अर्थ-शास्त्र का क्षेत्र—अर्थ शास्त्र पढ़ने से लाभ—मूल अर्थात् पारिभाषिक शब्द—उपयोगिता—अर्घ—मूल्य—माल—धन—आर्थिक कार्य—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

२. उपभोग ... ... २०—३०

उपभोग का अर्थ—उपभोग तथा नष्टता में अंतर—इच्छा और आवश्यकता में अंतर—आवश्यकताओं के लक्षण—आवश्यकताओं का वर्गीकरण—आवश्यक आवश्यकताएँ—आराम-सम्बन्धी आवश्यकताएँ—विलासिता-सम्बन्धी आवश्यकताएँ—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

३. उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त ... ... ३१—३७

उपयोगिता के क्रमशः घटने का नियम—सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता में अन्तर—सीमान्त इकाई और सीमान्त उपयोगिता—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

४. व्यय तथा पारिवारिक बजट ... ... ३८—४९

व्यय करने का नियम—सम-सीमान्त उपयोगिता का

नियम—उत्पत्ति के क्षेत्र में सम-सीमान्त उपयोगिता—पारिवारिक बजट का अर्थ—पारिवारिक बजट का नमूना—पारिवारिक बजट से लाभ—एंजिल का नियम—रहन-सहन का दरजा—भारत में रहन-सहन का दरजा—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

५. उत्पत्ति ... ... ५०—५४

उत्पत्ति का अर्थ—उत्पत्ति और उपभोग की तुलना—उत्पत्ति के साधन—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

६. भूमि ... ... ५५—५९

भूमि का अर्थ—भूमि के लक्षण—भूमि की कार्य-क्षमता—भारत की भूमि—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

७. श्रम ... ... ६०—६५

श्रम का अर्थ—श्रम के लक्षण—श्रम और भूमि की तुलना—श्रम के प्रकार और वर्गीकरण—उत्पादक और अनुत्पादक श्रम—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

८. श्रम की कार्य-क्षमता ... ... ६६—७३

श्रम की कार्य-क्षमता का अर्थ—श्रम की कार्य-क्षमता किन तत्त्वों पर निर्भर होती है—माल्थस का जन-संख्यावाला सिद्धांत—भारतीय श्रमियों की कार्य-क्षमता—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

९. पूँजी ... ... ७४—८४

पूँजी की परिभाषा—पूँजी के लक्षण—पूँजी का महत्त्व—पूँजी और श्रम की तुलना—पूँजी के प्रकार—पूँजी की कार्य-क्षमता—मशीनों से लाभ—मशीनों से हानियाँ—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

१०. संगठन या प्रबन्ध ... ... ८५—९५

संगठन का अर्थ—संगठन करनेवाले की योग्यता—श्रम-विभाजन—श्रम-विभाजन से लाभ—श्रम-विभाजन से हानियाँ—साहस—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

११. उपज के नियम ... ... ९६—१००

सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम—सीमान्त उत्पत्ति बढ़ने का नियम—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

१२. विनिमय ... ... १०१—१०७

विनिमय की परिभाषा—विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ—विनिमय से लाभ—विनिमय के भेद—वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

१३. बाजार और बाजार मूल्य ... ... १०८—११७

बाजार की परिभाषा—बाजार मूल्य—मूल्य निर्धारण की सीमाएँ—माँग और पूर्ति का मूल्य—माँग—माँग की तालिका—पूर्ति तथा पूर्ति-नियम—पूर्ति की तालिका—पूर्ति का नियम—मूल्य-निर्धारण—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

१४. माँग का नियम ११८—१३२

द्रव्य की उत्पत्ति—उत्तम द्रव्य की विशेषताएँ—द्रव्य की परिभाषा—द्रव्य के कार्य—द्रव्य के प्रकार—धातु मुद्रा के दो प्रकार—कागजी मुद्रा के दो प्रकार—कागजी मुद्रा से लाभ—बैंक—बैंक की परिभाषा—बैंक के कार्य—जमा प्राप्त करना—जमा उधार देना—बैंक के अन्य कार्य—भारत में बैंक-व्यवस्था—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर।

१५. वितरण ... ... १३४—१३७

वितरण का अर्थ—राष्ट्रीय धन—वितरण किन में किया जाता है—वितरण के सिद्धान्त—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर ।

१६. लगान ... ... १३७—१४३

लगान का अर्थ—लगान के भेद—रिकार्डो का सिद्धान्त—सीमान्त भूमि—भारत में लगान—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर ।

१७. मजदूरी ... ... १४४—१५५

मजदूरी का अर्थ—श्रम की विशेषताएँ—मजदूरी निर्धारित करने का सिद्धान्त—नकदी और असली मजदूरी—रहन-सहन का दरजा और मजदूरी—भिन्न-भिन्न व्यवसायों में मजदूरी—हमारे देश में मजदूरी—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर ।

१८. व्याज ... ... १५६—१६३

व्याज का अर्थ—कुल व्याज तथा वास्तविक व्याज—व्याज सम्बन्धी समस्याएँ—व्याज क्यों देते हैं—व्याज क्यों लेते हैं—व्याज की दर कैसे निर्धारित होता है—पूँजी की पूर्त्ति—भारत में व्याज की दर—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर ।

१९. लाभ ... ... १६४—१६८

लाभ का अर्थ—लाभ एक शेष भाग रहता है—कुल लाभ तथा वास्तविक लाभ—लाभ व्यक्तिगत लगान है—अभ्यास के लिए प्रश्नोत्तर ।

१

विषय-प्रवेश

किसी विषय का अध्ययन करने से पहले यह जिज्ञासा होती है कि उस विषय में किन-किन बातों का अध्ययन किया जाता है, उन बातों का हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है तथा उस विषय के अध्ययन से हमें क्या-क्या लाभ होते हैं। अर्थ-शास्त्र का विवेचन करने से पहले ये सब बातें बतला देना आवश्यक है।

अर्थ-शास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। अन्य सामाजिक शास्त्रों की तरह यह भी मनुष्य का अध्ययन सामाजिक प्राणी के रूप में करता है। जो मनुष्य समाज से बाहर (हिमालय की गुफाओं या इसी प्रकार के अन्य स्थानों पर) रहते हैं, उनका अध्ययन अर्थ-शास्त्र में नहीं किया जाता। इस शास्त्र में मनुष्य को छोड़कर पशु-पक्षियों आदि की क्रियाओं का अध्ययन भी नहीं किया जाता।

दूसरी बात जो मन में उठती है, वह यह है कि क्या मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन अर्थ-शास्त्र में होगा। उत्तर यह है कि यह शास्त्र केवल मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। आर्थिक क्रियाओं से हमारा तात्पर्य धन-सम्बन्धी क्रियाओं से है; अर्थात मनुष्य कैसे धन कमाता है और कैसे व्यय करता है। मनुष्य की बहुत-सी आवश्यकताएँ होती हैं; जैसे खाने के लिए रोटी, पीने के लिए पानी, पढ़ने के लिए कहानी, उपन्यास, काव्य आदि, खेलने के लिए ताश, गेंद-बल्ले आदि-आदि। आवश्यकताएँ

इस प्रकार अगणित हैं। आज के युग में हमें चीजें मुफ्त में प्राप्त नहीं हो सकतीं। ये वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए धन (पैसा-रुपया, सेवा आदि) देना होगा। इसी कारण सभी मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों में दिन-रात लगे रहते हैं। वे चाहते हैं कि हम अधिक से अधिक रुपया कमावें और उसके उपरान्त हम अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करें तथा सुखमय जीवन व्यतीत करें।

ऊपर लिखी हुई बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम अर्थ-शास्त्र की परिभाषा करते हैं।

अर्थ-शास्त्र की परिभाषा

अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। कुछ परिभाषाएँ तो अधिक व्यापक और कुछ संकीर्ण हैं। अर्थ-शास्त्र की अधिक उपयुक्त परिभाषा प्रो० मार्शल ने इस प्रकार की है—**अर्थ-शास्त्र वह सामाजिक शास्त्र है जो साधारण मनुष्यों के धन कमाने और धन खर्च करने की क्रियाओं का अध्ययन करता है।** अर्थात मनुष्य कैसे धन कमाता है और कैसे धन खर्च करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो यह धन का अध्ययन करता है तथा दूसरी ओर, जो अधिक महत्त्व का विषय है, मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

ऊपर की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अर्थ-शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो समाज में रहनेवाले मनुष्यों के विषय में अध्ययन करता है। इसी लिए इसको सामाजिक शास्त्र कहते हैं। जो मनुष्य समाज से पृथक् रहते हैं, अर्थात् जिनकी क्रियाओं का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उनके विषय में अर्थ-शास्त्र अध्ययन नहीं करता। उदाहरण के लिए, कन्दराओं और गुफाओं में रहनेवाले

साधु-संन्यासी आदि। समाज में रहनेवाले असाधारण व्यक्तियां, जैसे पागलों, कंजूसों आदि की किसी प्रकार की क्रिया का अध्ययन भी अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र से परे है। कल्पित मनुष्य का अध्ययन भी अर्थ-शास्त्र नहीं करता। इसके अध्ययन के लिए मनुष्य सामाजिक, औसत दरजे का तथा साधारण होना चाहिए।

ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि अर्थ-शास्त्र में सामाजिक तथा साधारण व्यक्तियों की केवल आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन होता है। जिन क्रियाओं या कार्यों का सम्बन्ध धन से रहता है, उन्हीं को हम आर्थिक कार्य कहते हैं। उदाहरण के लिए, मनुष्य प्रातः काल से सन्ध्या तक अनेक कार्य करता है; जैसे टहलना, स्नान करना, खेलना, खेती-बारी का काम, दफ्तर जाना इत्यादि। इनमें केवल खेती-बारी तथा दफ्तर जाने के काम धन कमाने के लिए किये जाते हैं, इसलिए इन्हें आर्थिक कार्य कहते हैं। जिन कार्यों का सम्बन्ध धन से नहीं है, उन्हें हम अनार्थिक कार्य कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में टहलना, स्नान करना, खेलना तथा मनोविनोद के लिए किये जाने-वाले कार्य अनार्थिक हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध धन से नहीं है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि धन-सम्बन्धी कार्यों का ही अध्य-यन अर्थ-शास्त्र में किया जाता है।

लेकिन इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सम्पूर्ण धन का अध्ययन अर्थ-शास्त्र में नहीं होता। इसमें धन के केवल उसी भाग का अध्ययन होता है, जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता है। धन के शेष भाग का अध्ययन, जिसका समाज से सम्बन्ध नहीं होता, अर्थ-शास्त्र में नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, जमीन के अन्दर गड़ा हुआ धन है। जिस प्रकार सम्पूर्ण धन के लिए अर्थ-शास्त्र में स्थान नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाओं का अध्ययन भी अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र से बाहर है। इस शास्त्र में मनुष्य

की उन्हीं क्रियाओं का अध्ययन होता है, जिनका सम्बन्ध धन कमाने या धन खर्च करने से होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अर्थ-शास्त्र में समाज में रहनेवाले साधारण व्यक्तियों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन होता है।

अध्ययन का विषय धन है या मनुष्य ?

अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का विषय धन और मनुष्य दोनों हैं। इसमें धन के सम्पूर्ण अंगों का अध्ययन नहीं किया जाता, केवल धन के उस अंग या भाग का अध्ययन किया जाता है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं से रहता है। शेष धन अर्थ-शास्त्र के अध्ययन से परे रहता है। उदाहरण के लिए कंजूस की तिजोरी में रक्खा हुआ धन अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का विषय नहीं होता, क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य के आर्थिक कार्यों से नहीं है।

धन से अधिक महत्त्व का विषय मनुष्य है; क्योंकि धन मनुष्य के सुख का साधन मात्र है। जिस प्रकार सम्पूर्ण धन का अध्ययन अर्थ-शास्त्र में नहीं किया जाता, उसी प्रकार मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाएँ भी इस शास्त्र के अध्ययन का विषय नहीं हैं। केवल आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, अर्थात वही कार्य जो धन से सम्बन्ध रखते हैं, अर्थ-शास्त्र के अध्ययन के विषय होते हैं; और वे ही आर्थिक कार्य कहलाते हैं।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अर्थ-शास्त्र में धन के कुछ भागों का तथा मनुष्य की केवल आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन होता है। अर्थात् इस शास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य और धन दोनों हैं।

अर्थ-शास्त्र के विभाग

वास्तव में अर्थ-शास्त्र के पाँच विभाग हैं—(१) उपभोग, (२) उत्पत्ति, (३) विनिमय, (४) वितरण और (५) राजस्व।

उपभोग (Consumption)—उपभोग में हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का अध्ययन करते हैं। हम सोचते हैं कि आवश्यकताएँ कैसे उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्त्ति कैसे होती है, उनके क्या लक्षण होते हैं और उनका वर्गीकरण कैसे किया जाता है। आवश्यकताओं की पूर्त्ति होने के पश्चात् हमें सन्तोष प्राप्त होता है। इन्हीं बातों का अध्ययन हम उपभोग के अन्तर्गत करते हैं।

उत्पत्ति (Production)—उत्पत्ति शब्द का अर्थ वस्तुओं का निर्माण करना है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि वस्तुओं में उपयोगिता की वृद्धि करना ही 'उत्पत्ति' कहलाता है। उपयोगिता की वृद्धि कितने प्रकार से होती है, उत्पत्ति के कितने साधन होते हैं, हर एक साधन को हम कैसे अधिक सुगम और फलदायक बना सकते हैं, आदि बातों का अध्ययन या विचार उत्पत्ति के अंतर्गत किया जाता है।

विनिमय (Exchange)—इसका अर्थ होता है—बदलना या अदला-बदली। जब एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु से बदली जाती है, तो उसे विनिमय कहते हैं। यह विनिमय क्यों किया जाता है, इससे क्या लाभ होते हैं, इसके क्या-क्या साधन हैं, विनिमय में किन-किन साधनों से हमें सहायता मिलती है, इत्यादि बातों का अध्ययन विनिमय में होता है।

वितरण (Distribution)—उत्पत्ति में जितने साधन (भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध तथा साहस) लगते या काम में आते हैं, उन

सबको कुछ पुरस्कार या प्रति-फल दिया जाता है। हम पुरस्कार के रूप में क्या वितरण करते हैं, कौन-कौन लोग वितरण के भागी होते हैं, वितरण में किन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है, आदि इसके विचारणीय विषय हैं।

राजस्व (Public Finance)—अर्थ-शास्त्र का अन्तिम विभाग राजस्व है, जिसका महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जाता है। इसके अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते हैं कि किसी देश की सरकार अपना कार्य चलाने के लिए किन-किन मदों से आय करती है तथा वह आय किन कार्यों या बातों में व्यय करती है। अर्थात् किसी देश की सरकार की आय और व्यय के व्योरे का अध्ययन राजस्व में किया जाता है।

अर्थ-शास्त्र के विभागों का पारस्परिक सम्बन्ध

अर्थ-शास्त्र के इन विभागों का आपस में एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यहाँ हम कुछ ऐसे सम्बन्धों का विचार करते हैं।

उपभोग और उत्पत्ति—प्रत्येक मनुष्य इसी लिए उत्पत्ति करता है कि उसका उपभोग होगा। उपभोग के विचार से ही किसी चीज की उत्पत्ति की जाती है। प्रत्येक मनुष्य आवश्यकताओं से प्रेरित होकर उत्पत्ति की ओर बढ़ता है। उदाहरण के लिए, जब एक मनुष्य को भूख लगती है, तब वह विवश होकर इधर-उधर खाने की वस्तुएँ तलाश करने लगता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कार्य करता है। इससे यह परिणाम निकला कि आवश्यकताएँ उत्पत्ति का मूल हैं। यदि आवश्यकताएँ न हों तो उत्पत्ति कदापि न हो। यद्यपि उत्पत्ति नवीन आवश्यकताओं

को प्रोत्साहन देती है, फिर भी उत्पत्ति को प्रेरित करनेवाली 'आवश्यकता' ही है। उदाहरण के लिए, हमको लेखनी की आवश्यकता है। उसकी पूर्त्ति साधारण कलम या फाउन्टेन पेन से हो सकती है, मगर फाउन्टेन-पेनें कई प्रकार की होती हैं। जिस फाउन्टेन पेन से लिखा नहीं जा सकता, उसकी उत्पत्ति निरर्थक है; क्योंकि उसमें लिखने की उपयोगिता ही नहीं है। आवश्यकताओं का अध्ययन हम उपभोग में करते हैं और वस्तुओं के निर्माण का अध्ययन उत्पत्ति में किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पत्ति सदा उपभोग के सहारे चलती है।

उपभोग और विनिमय—विनिमय के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि वस्तुएँ एक मनुष्य के हाथ से दूसरे ऐसे मनुष्य के पास पहुँचाई जाती हैं, जिसे उनकी अधिक आवश्यकता रहती है। वस्तुएँ निर्माण-कर्त्ता के हाथ से उपभोक्ता के हाथों तक पहुँचाई जाती हैं। यदि वस्तुओं का उपभोग न हो तो उनका विनिमय नहीं होगा। अर्थात् उपभोग ही के आधार पर विनिमय होता है और विनिमय ही उपभोग में सहायक होता है। यदि व्यापार न किया जाय तो हम उसी वस्तु का उपभोग कर सकेंगे, जिसका हमने स्वयं निर्माण किया हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि विनिमय के बिना सभ्यता का विकास नहीं हो सकेगा।

अर्थ-शास्त्र की विषय-सामग्री (Subject Matter)

विषय-सामग्री के संबंध में निम्न-लिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ:—

(क) मनुष्य और उसकी आर्थिक क्रियाएँ; और

(ख) धन।

ऊपर लिखी दोनों बातों पर हम यथा-स्थान काफी प्रकाश डाल चुके हैं।

मनुष्य के लिए आवश्यक है कि (क) सामाजिक, (ख) औसत दरजे का तथा (ग) साधारण हो।

आर्थिक क्रियाएँ चार प्रकार की होती हैं--

(क) उपभोग संबंधी,

(ख) उत्पत्ति संबंधी,

(ग) विनिमय संबंधी तथा

(घ) वितरण संबंधी।

ये सभी प्रकार की क्रियाएँ अर्थ-शास्त्र की विषय-सामग्री के अन्तर्गत आती हैं।

धन का अध्ययन भी मनुष्य के समान ही महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार मनुष्य के सब कार्यों का अध्ययन अर्थ-शास्त्र में नहीं किया जाता, उसी प्रकार सम्पूर्ण धन का भी अध्ययन अर्थ-शास्त्र में नहीं होता। धन के केवल उसी अंग या भाग का अध्ययन किया जाता है, जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता है। पृथ्वी के अन्दर गड़ा हुआ धन, या कंजूस की तिजोरी में रखा हुआ धन अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आता।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का विषय सामाजिक मनुष्यों के आर्थिक कार्य तथा धन का वह अंग या भाग है, जो सामाजिक मनुष्यों के आर्थिक कार्यों से सम्बन्ध रखता है।

अर्थ-शास्त्र की सीमाएँ (Limitations)

(क) अर्थ-शास्त्र केवल मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। उन मानवी क्रियाओं के लिए अर्थ-शास्त्र में कोई स्थान

नहीं है जो धन से सम्बन्ध नहीं रखतीं, या जिन्हें धन से मापा नहीं जा सकता।

(ख) मनुष्य यदि पागल, दिवालिया, कल्पित अथवा असामाजिक हो तो वह भी अर्थ शास्त्र का विषय नहीं होगा।

(ग) धन—इसमें उसी धन का विचार होता है जिसका समाज पर प्रभाव पड़े। जमीन में गड़े हुए धन का अध्ययन अर्थ-शास्त्र नहीं करता।

(घ) अर्थ-शास्त्र कहाँ तक विज्ञान है ?

(ङ) अर्थ-शास्त्र कहाँ तक कला है ?

अर्थ-शास्त्र न तो सम्पूर्ण विज्ञान ही है और न सम्पूर्ण कला। यह एक सीमा तक कला भी है तथा एक सीमा तक विज्ञान भी।

अर्थ-शास्त्र विज्ञान है अथवा कला ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि हम विज्ञान और कला के ठीक-ठीक अर्थ समझ लें। तभी हम यह निश्चय कर सकते हैं कि अर्थ-शास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों है।

विज्ञान का शाब्दिक अर्थ होता है—जानना या ज्ञान प्राप्त करना। किसी वस्तु या घटना के विषय में यदि कुछ वर्णन किया जाय, तो यह भी जानकारी प्राप्त करना कहा जायगा। लेकिन इस प्रकार के अध्ययन को हम विज्ञान नहीं कह सकते। विज्ञान में कारण और कार्य (फल) का साथ-साथ अध्ययन किया जाता है। यही जान लेना कि अमुक घटना घटी या अमुक वस्तु बाजार में बहुत महँगी या सस्ती बिक रही है, विज्ञान नहीं कहा जायगा। यह तो वर्णन मात्र है। यदि इन्हीं का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करना हो तो हमें यह पता लगाना पड़ेगा कि किस कारण से कोई फल प्राप्त हुआ; और तब उस कारण तथा परिणाम को नियम-बद्ध करना

पड़ेगा। यही बात कुछ विस्तार से हम इस प्रकार भी कह सकते हैं—"जब किसी वस्तु की बाजार में माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक होती है, तब उसका मूल्य कम हो जाता है तथा वह वस्तु सस्ती बिकती है।" यदि कहा जाय कि आज बाजार में अमुक वस्तु की अधिकता है, तो तुरन्त यह बात समझ में आ जाती है कि वह सस्ती बिकेगी।

एक दूसरे उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी। साधारण मनुष्य एक वृक्ष का वर्णन करते समय क्रम-बद्ध नियम नहीं रखता तथा उसके एक भाग के वर्णन का सम्बन्ध दूसरे से नहीं दिखलाता। यदि यह कहा जाय कि इस वृक्ष की पत्तियाँ चौड़ी और मोटी हैं, इसकी जड़ें दूर तक जमीन में चली गई हैं, ग्रीष्म ऋतु में यदि इसको पानी न मिले तो भी यह जीवित रह सकता है, तो इस प्रकार का अध्ययन वैज्ञानिक अध्ययन नहीं है, साधारण वर्णन मात्र है; क्योंकि इसमें कारण और कार्य या परिणाम का कुछ भी सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। यदि यही बात वैज्ञानिक ढंग से कहनी पड़े तो उपर्युक्त वर्णन का रूप इस प्रकार हो जायगा—इस वृक्ष की पत्तियाँ मोटी और चौड़ी हैं, क्योंकि इसकी जड़ें दूर तक जमीन में चली गई हैं। पत्तियों की चौड़ाई और मोटाई का सम्बन्ध जड़ों के दूर तक जमीन में फैले रहने से है। एक बात कारण है और दूसरी उसका परिणाम है। वैज्ञानिक अध्ययन में कारण और कार्य का विचार होना बहुत आवश्यक है। साथ ही उसमें इस प्रकार के वर्णन को नियम-बद्ध भी करना पड़ता है। कहना पड़ता है कि जिन पेड़ों की पत्तियाँ चौड़ी और मोटी होती हैं, उनकी जड़ें दूर तक जमीन में रहती हैं। इसमें कारण और कार्य की चर्चा के अतिरिक्त एक नियम-बद्ध कथन भी है जो उस प्रकार के अन्य वृक्षों के लिए भी ठीक घटता है।

विज्ञान का अर्थ समझने के बाद हम कला के अर्थ का विचार करते हैं। कला एक निर्दिष्ट आदर्श सामने रखकर उसकी ओर अग्रसर होती है। उदाहरण के लिए, हम यह आदर्श अपने सामने रखते हैं कि ऐसे उपाय तथा अनुसन्धान किये जायँ जिनसे अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ हो। यह आदर्श प्राप्त करने के लिए हम उपाय सोचते और कार्य करते हैं। यही कला है।

विज्ञान तथा कला का अर्थ समझ लेने के बाद हम यह विचार करेंगे कि अर्थ-शास्त्र विज्ञान है अथवा कला। अर्थ-शास्त्र के अध्ययन में हम देखते हैं कि कारण और परिणाम का साथ-साथ अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में वर्णन मात्र ही नहीं रहता। उदाहरण के लिए, जब किसी चीज की माँग बढ़ जाती है, तब हम यह पता लगाते हैं कि माँग के अधिक होने का कारण क्या है। इसका उत्तर यह मिलता है कि यदि और सब बातें समान रही हैं तो इसके मूल्य में अवश्य कमी हुई है। इससे यह नियम निकला कि किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने के कारण उसकी माँग बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि मूल्य बढ़ जाता है तो माँग घट जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर अर्थ-शास्त्र एक विज्ञान सिद्ध होता है।

अर्थ-शास्त्र के अन्तर्गत हम यह भी अध्ययन करते हैं कि समाज को सुखी बनाने के लिए हम किन आर्थिक कार्यों का सहारा ले सकते हैं तथा इसके लिए क्या-क्या सुझाव हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि चोर-बाजारी बन्द कर दी जाय और पूँजी-पतियों तथा श्रमिकों के संघर्ष में कमी हो जाय तो उत्पत्ति में वृद्धि हो जायगी। ऐसे सुझावों से समाज की दशा सुधर सकती है। इस प्रकार का अध्ययन कला के क्षेत्र में चला जाता है। इसलिए अर्थ-शास्त्र विज्ञान और कला दोनों है।

अर्थ-शास्त्र का क्षेत्र (Scope)

इस शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत नीचे लिखी बातें आती हैं—

(क) अर्थ-शास्त्र की विषय-सामग्री;

(ख) अर्थ-शास्त्र कला है या विज्ञान अथवा दोनों; और

(ग) अर्थ-शास्त्र की सीमाएँ।

इन सब बातों का ऊपर यथास्थान विचार हो चुका है।

यदि कोई अशिक्षित किसान हमसे पूछे कि अर्थ-शास्त्र किसे कहते हैं, तो हमें किसान को दो बातें समझानी होंगी। पहली यह कि अर्थ-शास्त्र की परिभाषा तथा दूसरे अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का विषय। किसान को समझाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि हम जो उदाहरण लें, वह उसके दैनिक जीवन का होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए जिससे वह भली भाँति परिचित हो। नहीं तो वह कुछ समझ ही नहीं सकेगा। उसे हम इस प्रकार समझावेंगे—हम लोग सवेरे से सन्ध्या तक अपने अलग-अलग कामों में लगे रहते हैं। किसान खेती-बारी में लगा रहता है। दूकानदार दूकान पर बैठा रहता है। वकील लोग कचहरी जाते हैं। इसी प्रकार अन्य पेशेवाले अपने कामों में लगे रहते हैं। यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि लोग ऐसा क्यों करते हैं, तो इसका एक मात्र उत्तर यह होगा कि सब लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए उन कामों में लगे हैं। कुछ लोग तो परिश्रम करके प्रत्यक्ष रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर लेते हैं। कुछ लोग परिश्रम करके कमाये हुए धन का विनिमय करके अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति, विनियम द्वारा, परोक्ष रूप से करते हैं। इस प्रकार अर्थ-शास्त्र समाज में रहनेवाले मनुष्यों के उन कार्यों का अध्ययन करता है, जिनसे लोग धन कमाते और उसे व्यय करते

हैं। उन कार्यों का अध्ययन अर्थ-शास्त्र में नहीं होता, जिनका संबंध धन से नहीं रहता। उदाहरण के लिए, पूजा-पाठ, आमोद-प्रमोद के कार्य, मन-बहलाव के लिए टहलना, खेल-कूद आदि धन से सम्बन्ध नहीं रखते।

अर्थ-शास्त्र केवल समाज में रहनेवाले साधारण व्यक्तियों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। समाज से अलग रहनेवाले साधु-संन्यासियों तथा समाज में रहनेवाले असाधारण व्यक्तियों (जैसे पागलों या कंजूसों) की क्रियाओं का भी अध्ययन अर्थ-शास्त्र में नहीं किया जाता। धन के केवल उस भाग का अध्ययन किया जाता है, जो मनुष्य के कार्यों से सम्बन्ध रखता है। धन के शेष भाग के अध्ययन के लिए अर्थ-शास्त्र में कोई स्थान नहीं रहता।

अर्थ-शास्त्र पढ़ने से लाभ

अर्थ-शास्त्र से होनेवाले लाभ हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—सैद्धान्तिक लाभ और व्यावहारिक लाभ।

(१) **सैद्धान्तिक लाभ**—जिस प्रकार अन्य विज्ञान पढ़ने से मस्तिष्क का विकास तथा ज्ञान की वृद्धि होती है, उसी प्रकार अर्थ-शास्त्र के पढ़ने से भी ज्ञान की वृद्धि और मस्तिष्क का विकास होता है। इसके पढ़ने से निरीक्षण करने की शक्ति विकसित होती है तथा तार्किक कुशलता की वृद्धि होती है।

(२) **व्यावहारिक लाभ**—दिन प्रति दिन के जीवन में भी हम अर्थ-शास्त्र के अध्ययन से लाभ उठाते हैं। यह हमारे जीवन के प्रत्येक अंग का अध्ययन करता है। भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मनुष्यों को इससे जो लाभ होते हैं, उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

(क) **गृह-स्वामियों को लाभ**—अर्थ-शास्त्र के अन्तर्गत हम

पारिवारिक बजट का अध्ययन करते हैं। इसके आधार पर हम अपने व्यय इस प्रकार करते हैं कि हमें ऋणी न होना पड़े; तथा अर्थ-शास्त्र के अन्य नियमों के आधार पर हम अपने खर्च का इस प्रकार बँटवारा करते हैं कि हमको उनके द्वारा अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो।

(ख) **व्यापारियों को लाभ**—व्यापार में अर्थ-शास्त्र के अध्ययन से अधिक लाभ पहुँचता है। माँग और पूर्त्ति के नियम व्यापारियों को यह बतलाते हैं कि वस्तुओं का मूल्य किस दशा में बढ़ेगा अथवा किस दशा में घटेगा, बड़े पैमाने की उत्पत्ति से क्या लाभ होता है, इसकी सीमा क्या है, आदि। इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर अर्थ-शास्त्र के अध्ययन से मिलता है।

(ग) **श्रमिकों को लाभ**—व्यापारियों की तरह श्रमिकों को भी अनेक लाभ होते हैं। वे पूँजीपतियों के शोषण से बचते हैं। मजदूर अपना संघटन करते हैं और सामूहिक रूप से अपनी माँगें पूँजीपतियों तथा सरकार के सामने पेश करते हैं, जिससे उनकी मजदूरी बढ़ती है और उनकी कठिनाइयाँ दूर होती हैं।

अर्थ-शास्त्र पढ़ने से समाज सुधारकों तथा राजनीतिज्ञों को भी अधिक लाभ होता है। भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मनुष्यों के पारिवारिक बजट के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि साधारण जनता किन-किन वस्तुओं का उपभोग कर रही है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि कौन-सी वस्तु आवश्यक आवश्यकता की है, कौन-सी आराम सम्बन्धी है और कौन विलासिता की वस्तु है। इसके द्वारा किसी देश के रहन-सहन के दरजे का भी पता चलता है। इसी के अनुसार राजनीतिज्ञों को वस्तुओं पर कर लगाने में सहायता मिलती है। आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर (टैक्स)

नहीं लगाया जाता, क्योंकि इनका भार गरीब जनता पर पड़ता है।

मूल अर्थात् पारिभाषिक शब्द

अर्थ-शास्त्र में उपयोगिता, अर्घ, मूल्य, माल, धन आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है; इसलिए ऐसे शब्दों की व्याख्या जान लेना भी आवश्यक है।

उपयोगिता—आवश्यकताओं को संतुष्टि करने की शक्ति को उपयोगिता कहते हैं। जिन वस्तुओं से हमारी आवश्यकताओं की संतुष्टि हो, वे सब वस्तुएँ उपयोगी कहीं जायँगी, भले ही वे हानिकारक क्यों न हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिगरेट, शराब तथा अन्य हानिकारक वस्तुओं में भी कुछ उपयोगिता है; क्योंकि इन वस्तुओं से हमारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है और हमको संतुष्टि प्राप्त होती है।

अर्घ—विनियम-साध्य वस्तुओं को जब हम दूसरी वस्तु से बदलते हैं, तब उस वस्तु को उसका अर्घ कहते हैं। जैसे यदि एक फाउन्टेन-पेन के बदले हम २५ कापियाँ प्राप्त करें तो २५ कापियाँ १ फाउन्टेन पेन का अर्घ कही जायँगी।

मूल्य—जब किसी वस्तु का मूल्य हम रुपये-पैसे में आँकते हैं, तब उसे मूल्य कहते हैं। जैसे यदि एक कलम के बदले हमको १०) मिलें तो यह दस रुपया उसका मूल्य कहा जायगा।

माल—समस्त वस्तुओं को, चाहे वह प्रकृति की देन हों या मनुष्य ने अपने परिश्रम से उत्पन्न की हों, माल कहा जायगा। लेकिन आर्थिक माल उन्हीं वस्तुओं को कहते हैं, जो विनिमय-साध्य हों। अर्थात् वही वस्तुएँ आर्थिक माल कही जाती हैं, जिन्हें हम

दूसरों के हाथ बेच सकते हैं। जैसे किताब, कपड़ा, मकान आदि। आर्थिक माल को धन कहा जाता है।

धन--समस्त विनिमय-साध्य वस्तुओं को हम धन कहते हैं; अर्थात् वे सब वस्तुएँ धन कहलाती हैं, जिन्हें हम बेच और खरीद सकते हैं। धन की तीन विशेषताएँ होती है—उपयोगिता, दुर्लभता और विनिमय-शीलता।

(क) उपयोगिता—जिन वस्तुओं से हमारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सकती है और जिनसे हमें सन्तुष्टि प्राप्त होती है, उन सब को हम उपयोगी वस्तु कहते हैं।

(ख) दुर्लभता—दुर्लभता का अर्थ होता है--मात्रा में कमी। जिस वस्तु की माँग की अपेक्षा पूर्त्ति अधिक होती है और जिसे प्राप्त करने में श्रम नहीं लगता, वह वस्तु दुर्लभ नहीं कही जाती; जैसे हवा या सूर्य का प्रकाश। इसके विपरीत जिस वस्तु की माँग उसकी पूर्त्ति से कहीं अधिक होती है, वह दुर्लभ कहलाती है। जैसे कपड़ा, गेहूँ, चावल आदि।

(ग) विनिमय-शीलता—जो वस्तुएँ बेची जा सकें, वे विनिमय-शील कहलाती हैं; जैसे किताब, कलम, कपड़ा आदि। आर्थिक माल और धन एक ही अर्थ रखते हैं।

आर्थिक कार्य—मनुष्य के कार्यों को हम दो भागों में बाँटते हैं। पहले, वे कार्य जिनका सम्बन्ध धन से रहता है। दूसरे, वे कार्य जिनसे धन का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

जिन कार्यों के करने में धन प्राप्त होता है अथवा व्यय होता है, वे सब कार्य आर्थिक कहे जाते हैं; जैसे दूकानदारी, खेती-बारी, किसी दफ्तर में नौकरी करना आदि। जिन कार्यों का सम्बन्ध धन से नहीं

रहता, वे सब कार्य अनार्थिक कहे जाते हैं; जैसे टहलना, घूमना, खेलना आदि।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—अर्थ-शास्त्र की परिभाषा बताइए।

उत्तर—अर्थ-शास्त्र सामाजिक विज्ञान है। यह धन तथा मनुष्य के आर्थिक कार्यों का अध्ययन करता है।

२—अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का विषय क्या है? धन या मनुष्य?

उत्तर—अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का विषय धन तथा मनुष्य के कार्य दोनों हैं। यह धन के केवल उस भाग का अध्ययन करता है, जिसका प्रभाव मनुष्यों के कार्यों पर पड़ता है; तथा मनुष्य के केवल उन कार्यों का अध्ययन करता है, जो धन से सम्बन्ध रखते हैं।

३—अर्थ-शास्त्र कला है या विज्ञान? या दोनों?

उत्तर—कला तथा विज्ञान का अर्थ पूर्ण रूप से समझना चाहिए। अर्थ-शास्त्र कला तथा विज्ञान दोनों है।

४—अर्थ-शास्त्र के कितने विभाग हैं? प्रत्येक विभाग में क्या-क्या अध्ययन किया जाता है?

उत्तर—अर्थ-शास्त्र के पाँच विभाग हैं—उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण तथा राजस्व। प्रत्येक विभाग का वर्णन पुस्तक में यथा-स्थान दिया गया है।

५—अर्थ-शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ होते हैं?

उत्तर—अर्थ-शास्त्र पढ़ने से सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक लाभ होते हैं, जिनका उल्लेख पुस्तक में किया गया है।

६—आर्थिक तथा अनार्थिक कार्यों में क्या अन्तर है ? नीचे लिखे कार्य आर्थिक हैं अथवा अनार्थिक ? कारण सहित उत्तर दीजिए।

प्रातःकाल टहलना, सन्ध्या समय फुट-बाल खेलना, पूजा-पाठ करना, देशाटन करना।

उत्तर—वे सब कार्य जो धन कमाने के लिए किये जाते हैं, आर्थिक कार्य कहे जाते हैं; तथा जो कार्य केवल आमोद-प्रमोद के लिए किये जाते हैं, वे अनार्थिक कार्य कहे जाते हैं।

प्रातःकाल का टहलना—अनार्थिक कार्य है।

सन्ध्या समय का फुट-बाल खेलना—यदि कोई खेलाड़ी धन कमाने के विचार से नहीं खेल रहा है, बल्कि अपने आमोद-प्रमोद के लिए खेल रहा है, तो वह अनार्थिक कार्य है। यदि वह धन कमाने के लिए खेलता है, तो उसके लिए यह आर्थिक कार्य है।

पूजा-पाठ—यदि कोई व्यक्ति अपने चित्त की शान्ति के लिए स्वयं पूजा-पाठ करता है और उस पूजा-पाठ करने में उसे किसी से धन नहीं मिलता, तो यह अनार्थिक कार्य है। इसके विपरीत, यदि कोई व्यक्ति दूसरों के लिए पूजा-पाठ करता है और उससे धन कमाता है, तो उसका यह कार्य आर्थिक कहा जायगा।

देशाटन—यदि कोई व्यक्ति अपने आमोद-प्रमोद के लिए जगह-जगह घूमता है तो यह अनार्थिक कार्य कहा जायगा। यदि ऐसा करके कोई व्यक्ति धन कमाता है (जैसे—भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बेचनेवाले एजेन्ट) तो इसे आर्थिक कार्य कहेंगे।

७—धन की परिभाषा बताइए। नीचे लिखी वस्तुएँ धन हैं या नहीं ! कारण सहित उत्तर दीजिए।

शुद्ध वायु, सूर्य की रोशनी, पढ़ने की पुस्तकें, गंगा-जल, जजमानी, कमीज, कालेज की लाइब्रेरी इत्यादि।

उत्तर—वे सब वस्तुएँ, जिन्हें हम बेच सकते हैं, धन कहलाती हैं।

शुद्ध वायु तथा सूर्य की रोशनी धन नहीं हैं, क्योंकि इन्हें हम बेच नहीं सकते। पुस्तकें धन है, क्योंकि उन्हें हम बेच सकते हैं।

गंगा-जल—धन है भी और नहीं भी है। ऐसे स्थान में जहाँ गंगा जल बिक सकता है, धन है। ऐसे स्थान में जहाँ वह नहीं बेचा जा सकता, धन नहीं है।

जजमानी—यह बेची जाती है, इस कारण धन है।

कमीज—बेची जाती है, इस कारण धन है।

कालेज की लाइब्रेरी—बेची जा सकती है, इस कारण धन है।

८—नीचे लिखे शब्दों का अर्थ समझाकर लिखिए—

उपयोगिता, मूल्य, माल तथा अर्घ।

उत्तर—इन शब्दों की व्याख्या पुस्तक में दी गई है।

२

उपभोग

उपभोग अर्थ-शास्त्र का केन्द्रीय विषय है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक लोहे की कीली पर घूमता है, उसी प्रकार हमारे समस्त आर्थिक कार्य उपभोग के दृष्टि-कोण से होते हैं। उपभोग का अर्थ आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्त्ति करना होता है। आवश्यकताएँ ही मनुष्य को आर्थिक कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। यदि मनुष्य की आवश्यकताएँ न हों तो वह कदापि कोई कार्य न करे। आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ही मनुष्य कार्य करता है और धन कमाकर उनकी पूर्त्ति करता है।

उपभोग का अर्थ

अर्थ-शास्त्र में वस्तुओं की उपयोगिता नष्ट करने को उपभोग कहते हैं। हम प्रति दिन अनेक वस्तुओं का उपभोग करते हैं। जैसे—कपड़ा पहनते हैं, भोजन करते हैं आदि। हम उपभोग द्वारा इन सब वस्तुओं की उपयोगिता कम करते हैं। एक कोट जब हम पहनते हैं, तब उसकी उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। एक समय ऐसा आता है, जब कोट हमारे काम के लायक नहीं रह जाता; अर्थात् उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। जैसे उत्पत्ति का अर्थ होता है—उपयोगिता का सृजन करना, वैसे ही उपभोग का अर्थ होता है—उपयोगिता नष्ट करना। लेकिन उपयोगिता नष्ट करने के साथ-साथ हमको सन्तुष्टि प्राप्त होती है। सन्तुष्टि प्राप्त होना उपभोग में आवश्यक होता है।

उपभोग अर्थ-शास्त्र के अध्ययन का केन्द्रीय विषय है। संसार में मनुष्य जितने कार्य करता है, वे सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए करता है। उपभोग में आवश्यकताओं का ही अध्ययन किया जाता है। उत्पत्ति, विनिमय, वितरण सब उपभोग के आश्रित रहते हैं, क्योंकि उत्पत्ति उपभोग के लिए ही की जाती है। वस्तुओं का अदल-बदल या विनिमय इसी वास्ते होता है कि वे उपभोक्ता के हाथों तक पहुँच जायँ। जब किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है, तभी उसका वितरण भी होता है। किसी देश या राष्ट्र में प्रजा सुखी है या नहीं, इसका पता उपभोग की जानेवाली वस्तुओं तथा उनकी मात्राओं से चलता है। इन्हीं सब कारणों से उपभोग को इतना अधिक महत्व दिया जाता है।

उपभोग और नष्टता में अन्तर

उपभोग का अर्थ अर्थ-शास्त्र में उपयोगिता नष्ट करने ही से होता है। लेकिन उस नाश के साथ संतुष्टि भी प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, जब हम भोजन करते हैं, तब उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है; लेकिन उसके साथ हमें संतुष्टि भी प्राप्त होती है— हमारी भूख की तृप्ति होती है। लेकिन किसी वस्तु के कोरे या विशुद्ध नाश से हमें संतुष्टि नहीं प्राप्त होती। एक ही क्रिया भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से नष्टता और उपयोगिता दोनों हो सकती है। उदाहरण के लिए, यदि एक प्याला हाथ से गिरकर टूट जाय तो वह उसका नष्ट होना कहा जायगा। पर यदि हम यह जानने के लिए जान-बूझकर प्याला तोड़ें कि यह किस चीज का बना है, तो यह उपभोग कहा जायगा, क्योंकि इससे संतुष्टि प्राप्त होती है।

आवश्यकता, आर्थिक क्रिया और संतुष्टि में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। कहते हैं—"आवश्यकता आर्थिक क्रियाओं की

जननी है।" आवश्यकता के ही कारण आर्थिक क्रियाएँ की जाती हैं। आर्थिक क्रियाएँ करने से आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है, जिससे संतुष्टि प्राप्त होती है। मनुष्य को भूख लगती है। उसकी तृप्ति के लिए वह कुछ काम करता है, जिससे पैसा प्राप्त होता है। उस पैसे से वह भोजन की सामग्री खरीदता है और अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति या तृप्ति करता है। यही बात हम इस प्रकार दिखा सकते हैं—

आर्थिक कार्य

आवश्यकता धन की प्राप्ति—>विनिमय—>संतुष्टि
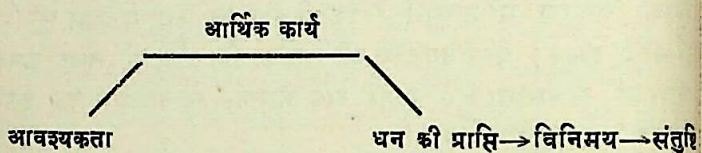
यह क्रम श्रृंखला-बद्ध रहता है।

यह तो हुआ किसी आवश्यकता की पूर्त्ति का क्रम। परन्तु आवश्यकताएँ अगणित होती हैं। एक आवश्यकता की पूर्त्ति के बाद दूसरी आवश्यकता उपस्थित होती है। यही क्रम सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति के विषय में लागू होता है। आर्थिक कार्य आवश्यकताओं के कारण होते हैं। और जब संतुष्टि प्राप्त हो जाती है, तब आर्थिक कार्य समाप्त हो जाते हैं। यह श्रृंखला-बद्ध क्रम लगातार जीवन पर्यन्त चलता रहता है।

इच्छा और आवश्यकता में अन्तर

अर्थ-शास्त्र में इच्छा और आवश्यकता दोनों का अर्थ एक ही नहीं है, बल्कि दोनों में अन्तर है। 'इच्छा' को हम 'लालसा' भी कह सकते हैं। जब हमारे मन में कोई वस्तु प्राप्त करने की भावना उत्पन्न होती है,तब हम उस भावना को 'इच्छा' कहते हैं। इस प्रकार के विचार में वह वस्तु प्राप्त करने का साधन हम अपने सामने नहीं

रखते। जैसे, यदि हम सोचें कि हमारे पास एक शीश-महल हो जाता या एक अच्छी मोटर कार हो जाती, तो बहुत अच्छा होता। लेकिन इन वस्तुओं के खरीदने के लिए पास में रुपये नहीं हैं; मन में विचार मात्र है। ऐसे विचारों को 'इच्छा' कहा जाता है। 'आवश्यकता' शब्द का अर्थ होता है—किसी वस्तु की प्रबल इच्छा होना और साथ-ही-साथ उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए साधन या जेब में रुपया भी होना। यदि हम वह वस्तु प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा करें तथा उसका मूल्य चुकाने के लिए भी तैयार हों, तो हमारी यह इच्छा 'आवश्यकता' कही जायगी। आवश्यकता के अन्तर्गत दो बातों का होना आवश्यक होता है—एक प्रबल इच्छा और दूसरे उसकी पूर्त्ति करने का साधन।

आवश्यकताओं के लक्षण

(१) आवश्यकताएँ अगणित होती हैं—मनुष्य का स्वभाव होता है कि जब एक इच्छा पूरी हो जाती है, तब वह दूसरी वस्तु प्राप्त करने की इच्छा करता है और उसके लिए प्रयत्नशील होता है। उदाहरण के लिए—मनुष्य खाने के लिए भोजन की खोज करता है। उसकी पूर्त्ति होने के पश्चात् वह रहने के लिए मकान ढूँढ़ता है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि आज हमको कोट की जरूरत है और कल किताब चाहिए। इनकी पूर्त्ति होने पर कुछ दूसरी वस्तुओं की आवश्यकता उपस्थित होती है। जब तक मनुष्य संसार में रहता है, तब तक उसके साथ एक न एक आवश्यकता लगी रहती है। अनुभव से हमें पता चलता है कि मनुष्य की सब इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होतीं।

(२) एक इच्छा की पूर्त्ति एक समय में हो हो सकती है—आवश्यकता की दूसरी विशेषता यह है कि यदि हम किसी मनुष्य की एक

इच्छा एक समय में देखें, तो यह ज्ञात होगा कि उसकी पूर्त्ति की जा सकती है। मान लीजिए कि आपको इस समय भूख लगी है। आप खाना खाकर अपनी भूख मिटा सकते और सन्तुष्टि प्राप्त कर सकते हैं। प्यास की आवश्यकता की पूर्त्ति एक गिलास पानी से कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्त्ति कुछ समय के लिए हो जाती है।

(३) आवश्यकताएँ बार-बार उपस्थित होती हैं—एक वस्तु की आवश्यकता की पूर्त्ति एक समय तो पूर्ण रूप से हो जाती है। लेकिन कुछ समय बीतने पर वही आवश्यकता फिर उपस्थित हो जाती है। दोपहर का खाना खाने के बाद सन्ध्या समय फिर भूख लगती है या पानी पीने के कुछ घण्टों बाद फिर प्यास लगती है।

(४) आवश्यकताएँ आपस में स्पर्धा करती हैं—यह बात हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि कुछ आवश्यकताएँ अधिक जरूरी होती हैं और कुछ उनसे कम। एक समय में एक मनुष्य को एक ही आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि कई आवश्यकताएँ होती हैं। मान लीजिए कि हमें भूख लगी है, एक किताब खरीदनी है और कुछ कपड़े खरीदने हैं। लेकिन इनमें जो सबसे अधिक जरूरी आवश्यकता होगी, उसकी पूर्त्ति सबसे पहले होगी। साधारणतः मनुष्य अपनी भूख शान्त करने के लिए पहले भोजन करेगा। उसके बाद जो उससे कम जरूरी आवश्यकता होगी, उसे पूरा करेगा।

(५) आवश्यकताएँ एक दूसरी की पूरक होती हैं—कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्त्ति के लिए दो या दो से अधिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए—यदि आप फाउन्टेन पेन खरीदते हैं, तो स्याही खरीदना आवश्यक हो जाता

है। इसी तरह यदि ग्रामोफोन मशीन खरीदते हैं, तो उसके साथ रिकार्ड खरीदना आवश्यक हो जाता है।

(६) आवश्यकताएँ आदत पर निर्भर हैं—हमारी अधिकांश आवश्यकताएँ आदत पर निर्भर होती हैं। जैसे—कपड़ा पहनना, अखबार या किताबें पढ़ना, सिनेमा देखना, पान, सिगरेट या चाय का सेवन करना आदि।

(७) एक आवश्यकता की पूर्त्ति कई वस्तुओं से हो सकती है—बहुत-सी आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनकी पूर्त्ति एक ही वस्तु से नहीं, बल्कि कई वस्तुओं से हो सकती है। ऐसी वस्तुएँ एक दूसरी की स्थानापन्न होती हैं। उदाहरण के लिए, भूख की तृप्ति मिठाई, फल, रोटी, दूध आदि में से किसी एक वस्तु से की जा सकती है। ऐसी वस्तुओं को स्थानापन्न वस्तुएँ कहते हैं।

(८) ज्ञान की वृद्धि से आवश्यकताओं की भी वृद्धि होती है—ज्यों-ज्यों मनुष्य की जानकारी तथा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं। जब मनुष्य को विशेष ज्ञान नहीं था और जब वह जंगली अवस्था में रहता था, तब उसकी आवश्यकताएँ भी बहुत कम थीं। आज मनुष्य सभ्य हो गया है, इससे उसकी आवश्यकताएँ भी बहुत बढ़ गई हैं; क्योंकि उसके ज्ञान की अधिक वृद्धि हो गई है।

(९) आवश्यकताएँ समाज की आर्थिक दशा पर निर्भर हैं—आवश्यकताएँ समाज की दशा के अनुसार होती हैं। जैसी समाज की दशा रहती है, उसी के अनुसार आवश्यकताएँ भी होती हैं। यदि समाज में सब मनुष्य मध्यम श्रेणी के हों तो उनकी आवश्यकताएँ भी उसी के अनुसार होंगी। उदाहरण के लिए, शहर के रहनेवालों के लिए गरमी के दिनों में बरफ आवश्यक वस्तु रहती है। परन्तु ग्रामीणों के लिए यह विलासिता की वस्तु समझी जाती है; क्योंकि

गाँव में रहनेवाले आदमी साधारणतः गरीब होते हैं; और यदि उन्हें बरफ मिले भी तो वे रोज उसे खरीद नहीं सकते।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण

आवश्यकताओं को हम मुख्यतः तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) आवश्यक आवश्यकताएँ,

(२) आराम या सुख-सम्बन्धी आवश्यकताएँ और

(३) विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ।

(१) आवश्यक आवश्यकताओं के तीन विभाग होते हैं—

(क) जीवन-रक्षक आवश्यकताएँ,

(ख) निपुणता-रक्षक आवश्यकताएँ और

(ग) सम्मान-रक्षक आवश्यकताएँ।

स्पष्टता के लिए ये आवश्यकताएँ इस प्रकार भी दिखा सकते हैं·

आवश्यकताएँ

आवश्यक आवश्यकताएँ | आराम-सम्बन्धी | विलासिता-सम्बन्धी

आवश्यक आवश्यकताएँ:

जीवन-रक्षक | निपुणता-रक्षक | समाज-सम्मान-रक्षक
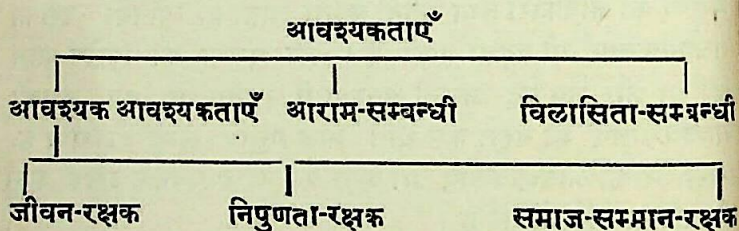
(१) आवश्यक आवश्यकताएँ—जिन आवश्यकताओं की पूर्त्ति हम जीवन की रक्षा के लिए करते हैं या निपुणता की रक्षा या समाज में सम्मान रखने के विचार या उद्देश्य से करते हैं, उन्हें आवश्यक आवश्यकताएँ कहते हैं। उदाहरण के लिए, हम भोजन इस उद्देश्य से करते हैं कि हम जीवित रह सकें; तथा भोजन में पौष्टिक पदार्थ इस उद्देश्य से सम्मिलित किये जाते हैं कि उनसे हमें अधिक शक्ति प्राप्त हो। समाज में रहकर यह आवश्यक होता है कि लोगों में

प्रतिष्ठा प्राप्त करें। जितने कार्य इस दृष्टि से किये जाते हैं, उनको समाज-सम्मान-रक्षक कार्य कहते हैं। जैसे शादी-विवाह में प्रीति-भोज देना, मित्रों और सम्बन्धियों को निमन्त्रित करना और पान, सिगरेट आदि से उनका सत्कार करना।

(२) आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ — वे हैं जिनकी पूर्त्ति करने से केवल आराम मिलता है; कार्य-क्षमता या कार्य कुशलता की वृद्धि नहीं होती। उदाहरण के लिए, हमें कुरसी पर बैठकर पढ़ने या टेबुल पर लिखने में जमीन पर बैठकर पढ़ने-लिखने की अपेक्षा अधिक सुभीता होता है। इसलिए टेबुल-कुरसी आराम देनेवाली वस्तुएँ कही जायँगी। यही बात चौकी, पलंग आदि के सम्बन्धी में भी है।

(३) विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ — जो वस्तुएँ न तो आवश्यक आवश्यकताओं के अन्तर्गत आती हैं और न आराम सम्बन्धी होती हैं, वे विलासिता की वस्तुएँ कही जाती हैं। साधारण से भिन्न या अतिरिक्त इच्छाओं की पूर्त्ति ही विलासिता कही जाती है। उदाहरण के लिए रेडियो, सिनेमा आदि विलासिता की चीजें कही जायँगी।

यदि हम यह निर्णय करना चाहें कि कौन-सी वस्तु किस श्रेणी की है, तो इसके लिए हमें मनुष्य की आमदनी, समय और देश की दशा का अध्ययन करना आवश्यक होगा।

एक वस्तु एक मनुष्य के लिए आवश्यकता की वस्तु होती है, तो दूसरे व्यक्ति के लिए विलासिता की वस्तु। उदाहरण के लिए, एक मोटर किसी डाक्टर या वकील के लिए तो आवश्यकता की वस्तु होगी; क्योंकि उसके द्वारा वह समय बचाकर अपनी आमदनी बढ़ा सकता है। परन्तु एक विद्यार्थी के लिए वही मोटर आराम अथवा विलासिता की वस्तु कही जायगी।

एक ही व्यक्ति के लिए, जब उसकी आमदनी कम है, एक वस्तु विलासिता की कही जायगी; लेकिन आमदनी बढ़ जाने से वही

वस्तु उसके लिए, आवश्यकता की वस्तु हो जाती है। उदाहरण के लिए, हमारे देश में ग्रामीण जनता के लिए, जो अधिकतर ग़रीब है, ऊनी कपड़ा विलासिता की वस्तु है। लेकिन जो व्यक्ति धनी हो गया हो, उसके लिए वह आवश्यकता की वस्तु हो जाती है।

अतः यह निश्चय हुआ कि वस्तुओं का वर्गीकरण देश, काल, और व्यक्ति की आमदनी पर निर्भर है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर ही हम यह निश्चय कर सकते हैं कि अमुक वस्तु आवश्यकता की वस्तु है, या आराम सम्बन्धी अथवा विलासिता की है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—उपभोग का अर्थ-शास्त्र में क्या अर्थ होता है? अर्थ-शास्त्र के अध्ययन में उसका क्या महत्त्व है?

उत्तर—उपभोग का अर्थ अर्थ-शास्त्र में आवश्यकताओं की पूत्ति के लिए वस्तुओं की उपयोगिता नष्ट करना होता है, जिसके द्वारा सन्तुष्टि प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, भूख लगने पर जब हम भोजन करते हैं, तब उससे हमें सन्तुष्टि प्राप्त होती है और भोजन का उपभोग द्वारा नाश होता है।

उपभोग का महत्त्व—उपभोग अर्थ-शास्त्र का केन्द्रीय विषय है। समस्त उत्पत्तियाँ उपभोग के लिए ही की जाती हैं। विनिमय तथा वितरण भी उपभोग पर निर्भर हैं। यदि किसी वस्तु का उपभोग न हो तो उसकी उत्पत्ति ही न हो। वस्तुओं का विनिमय भी उपभोग के लिए ही किया जाता है। जब किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है, तब वितरण की समस्याएँ उपस्थित होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपभोग अर्थ-शास्त्र का केन्द्रीय विषय है।

२—उपभोग और नष्टता में क्या अन्तर है ?

उत्तर—उपभोग और नष्टता दोनों में वस्तुओं की उपयोगिता का नाश होता है। उपभोग में तो आवश्यकता की पूर्त्ति होती है और सन्तुष्टि प्राप्त होती है; लेकिन नष्टता में न तो आवश्यकता की पूर्त्ति होती है और न सन्तुष्टि प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, जब हम एक कपड़ा पहनते हैं तो उससे हमारी आवश्यकता की पूर्त्ति होती है और हमें सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इसे उपभोग कहा जाता है। लेकिन वही कपड़ा यदि बिना प्रयोग किये हुए नष्ट हो जाता है, फट या जल जाता है, तो उसे नष्टता कहते हैं, क्योंकि उससे सन्तुष्टि नहीं प्राप्त होती।

३—आवश्यकता किसे कहते हैं और इसके कितने लक्षण हैं ?

उत्तर—इसका उत्तर पुस्तक में ऊपर दिया जा चुका है।

४—एक विद्यार्थी और एक किसान की आवश्यकताओं में क्या अन्तर है ? उदाहरण देकर समझाइए।

उत्तर—आवश्यकताओं के लक्षणों में एक लक्षण यह भी है कि आवश्यकताएँ ज्ञान-वृद्धि के साथ बढ़ती हैं। एक विद्यार्थी का ज्ञान या जानकारी एक किसान के ज्ञान या जानकारी की अपेक्षा अधिक होती है। विद्यार्थी का ज्ञान दिन प्रति दिन बढ़ता रहता है; इसलिए उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती रहती हैं। जब हम अपने देश के एक किसान और एक विद्यार्थी की आवश्यकताओं की तुलना करते हैं, तब यह ज्ञात होता है कि एक किसान की आवश्यकताएँ बहुत कम रहती हैं। किसान को खाने के लिए भोजन, थोड़े से कपड़े और रहने के लिए निवास-स्थान की ही आवश्यकता होती है। लेकिन यदि उसी किसान का लड़का किसी स्कूल में पढ़ता हो तो उसकी आवश्यकताएँ बहुत अधिक रहती हैं। वह स्कूल जाने के लिए एक कपड़ा तथा घर पर पहनने के लिए दूसरा कपड़ा रखता

है। स्कूल में पढ़ने के लिए किताबें और लिखने के लिए कलम-दवात अवश्य होनी चाहिए। इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की भी उसे आवश्यकता होती है। मुख्य बात यही है कि उसकी जानकारी बढ़ती जाती है और जानकारी के बढ़ने के कारण उसकी आवश्यकताओं में भी वृद्धि हो जाती है।

५—आवश्यकताओं का वर्गीकरण कीजिए तथा यह बताइए कि इनका वर्गीकरण किस आधार पर किया जाता है।

उत्तर—आवश्यकताएँ तीन प्रकार की हैं—आवश्यक आवश्यकताएँ, आराम या सुख सम्बन्धी तथा विलासिता सम्बन्धी। आवश्यक आवश्यकताओं के तीन भाग हैं—(१) जीवन-रक्षक, (२) निपुणता-रक्षक और (३) समाज-सम्मान-रक्षक आवश्यकताएँ। इनका निश्चय और वर्गीकरण देश, काल तथा मनुष्य की आमदनी के आधार पर किया जाता है।

६—आवश्यकताओं और आर्थिक क्रियाओं में क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—समस्त आर्थिक क्रियाएँ आवश्यकताओं के कारण होती हैं। यदि आवश्यकताएँ न हों तो आर्थिक क्रियाएँ समाप्त हो जायँ। मनुष्य आवश्यकताओं से प्रेरित होकर ही आर्थिक कार्य करता है और उसके द्वारा धन कमाता है। धन का विनिमय करके वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है।

३

उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त

जिस प्रकार हम किसी वस्तु की तौल मन, सेर, छटाँक आदि में प्रकट करते हैं या किसी चीज की लम्बाई-चौड़ाई गज, फुट, इंच आदि से नापते हैं, उसी प्रकार अर्थ-शास्त्र में किसी वस्तु की उपयोगिता रुपये-पैसे में आँकी जाती है। जो वस्तु हमारे लिए जितनी ही अधिक उपयोगी होती है, उसके लिए हम उतना ही अधिक मूल्य देते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम भोजन पर अधिक रुपये व्यय कर रहे हैं और कपड़े पर कम रुपये खर्च करते हैं, तो इससे यह सिद्ध होता है कि भोजन हमारे लिए कपड़ों की अपेक्षा अधिक उपयोगिता रखता है। कपड़ों पर रुपया व्यय करने के बाद हम विलासिता की वस्तुएँ खरीदते हैं; क्योंकि विलासिता की वस्तुओं से कपड़ा अधिक उपयोगी है। जितना रुपया वस्तुओं पर खर्च होता है, उसी के हिसाब से उनकी उपयोगिता ज्ञात होती है।

उपयोगिता के क्रमशः घटने का नियम
(Law of Diminishing Utility)

अनुभव से प्रत्येक व्यक्ति को पता चलता है कि एक वस्तु की इकाई में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसकी उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है; और एक समय ऐसा आता है, जब उसकी उपयोगिता नहीं रह जाती या शून्य हो जाती है। यह बात हम एक उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा सकते हैं।

एक भूखे मनुष्य के लिए पहली रोटी की अधिक उपयोगिता होती है, दूसरी की उससे कम। तीसरी की उपयोगिता दूसरी से भी कम होती है। कारण यह है कि पहली रोटी खाने से उसकी भूख की तीव्रता में कमी हो जाती है। अब वह दूसरी रोटी के लिए उतना नहीं घबरावेगा, जितना पहली रोटी के लिए। इसी लिए दूसरी इकाई में संतुष्टि देने की मात्रा कम होती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों रोटियों की इकाइयों में वृद्धि होती जायगी, त्यों-त्यों उनकी उपयोगिता में कमी होती जायगी। नीचे के हिसाब से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

रोटियों की संख्या		प्राप्त उपयोगिता
१	...	१० आना
२	...	८ आना
३	...	५ आना
४	...	२ आना
५	...	१ आना
६	...	०

इससे यह प्रकट होता है कि भूखे मनुष्य को साधारणतः ५ वीं रोटी तक उपयोगिता प्राप्त होती है। छठी रोटी से कुछ भी उपयोगिता नहीं प्राप्त होती। यदि उसको रोटियाँ खरीदकर खानी पड़ें तो वह केवल ५ वीं रोटी तक खरीदेगा; क्योंकि ५ वीं तक उपयोगिता मिल रही है। छठी रोटी वह न खरीदेगा; क्योंकि उससे कुछ उपयोगिता नहीं मिलती। यही बात हम एक चित्र द्वारा यों समझा सकते हैं—

ग
उपयोगिता
क
० १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ख
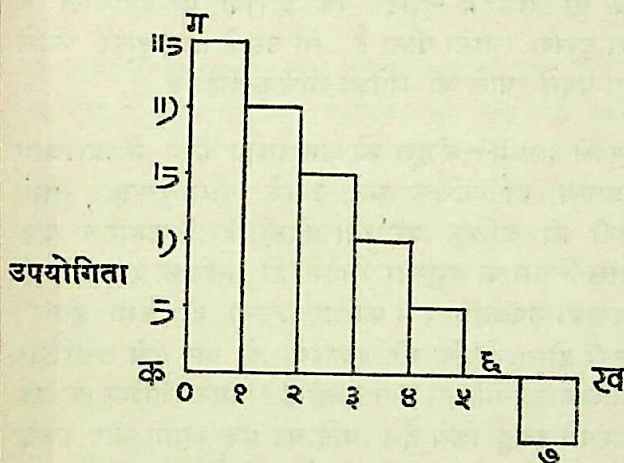
इसमें की क-ख रेखा रोटियों की इकाइयाँ सूचित करती है और क–ग रेखा उपयोगिया का मान दिखाती है।

क्रमिक उपयोगिता का यह ह्रास-नियम, कंजूस, शराबी, किसी वस्तु की अत्यन्त थोड़ी मात्रा अथवा अद्‌भुत वस्तुओं के सम्बन्ध में लागू नहीं होता।

इस नियम के लागू होने के लिए नीचे लिखी बातें आवश्यक हैं।

(१) उपभोग का समय एक ही होना चाहिए। यदि समय बदल जायगा तो उपयोगिता में भी अन्तर हो जायगा। उदाहरण के लिए, एक समय में जब हम भोजन करते हैं, तो अन्तिम इकाई से बहुत कम उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु समय बीतने पर उसी इकाई की उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

(२) जिस वस्तु का हम उपभोग कर रहे हैं, उसकी हर इकाई समान गुणवाली होनी चाहिए। नीचे लिखी दशाओं में यह नियम लागू नहीं होता—

(क) शराब की दशा में—यदि एक शराबी पहले प्याले के बाद शराब का दूसरा प्याला पीता है, तो उसके लिए दूसरे प्याले की उपयोगिता पहले प्याले की अपेक्षा अधिक होती है।

(ख) कंजूस की दशा में—कंजूस को धन इकट्ठा करने में प्रसन्नता होती है। जितना ही अधिक धन उसके पास इकट्ठा होता है, उसे उतनी ही अधिक प्रसन्नता होती है। क्रमागत उपयोगिता के ह्रास-नियम के अनुसार जितनी ही अधिक इकाइयों की वृद्धि होगी, उसकी उपयोगिता में क्रमशः उतनी ही कमी होनी परन्तु ऐसा नहीं होता; पहले की इकाइयों के बाद उसे उत्तरोत्तर इकाइयों से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। मान लीजिए कि एक कंजूस ने ९९ रुपये इकट्ठे किये हैं। यदि वह एक रुपया और इकट्ठा कर लेता है तो उसके पास १००) रुपये हो जाते हैं। १००) वें रुपये की उपयोगिता ९९ वें की अपेक्षा कम होनी चाहिए; लेकिन कंजूस को १०० वें रुपये से ९९ वें रुपये की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है।

(ग) किसी वस्तु की थोड़ी मात्रा होने की दशा में—यदि किसी को प्यास लगी हो और थोड़ा-थोड़ा पानी उसे प्राप्त हो तो पहले की कुछ इकाइयों से उसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। कुछ इकाइयों के बाद उपयोगिता में कमी हो जायगी।

(घ) प्राचीन दुर्लभ वस्तुओं की दशा में—प्राचीन दुर्लभ वस्तुओं (जैसे प्राचीन समय के सिक्कों या हस्त-लिखित पुस्तकों) की दशा में भी यह नियम नहीं लागू होता। यदि किसी राजा के एक सिक्के के बाद उस राजा का वैसा ही दूसरा सिक्का मिलता है, तो दूसरे की उपयोगिता पहले की अपेक्षा अधिक होती है।

सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता में अन्तर

सीमान्त उपयोगिता—वह उपयोगिता जो एक उपभोक्ता को उस इकाई द्वारा प्राप्त होती है, जिसके बाद वह और अधिक इकाइयों का उपभोग नहीं करता, सीमान्त उपयोगिता कहलाती है। हम पहले देख चुके हैं कि भूखे मनुष्य ने पाँच रोटियों का उपभोग किया है। ५वीं रोटी के उपभोग से उसको उपयोगिता की ५ इकाइयाँ प्राप्त हुई थीं। यही सीमान्त उपयोगिता कहलाती है।

कुल उपयोगिता—एक उपभोक्ता को एक ही समय के उपभोग की सब इकाइयों द्वारा जितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, उस सबको मिलाकर कुल उपयोगिता कहते हैं। पिछले अध्याय (उपयोगिता, ह्रास-नियम) में ५ रोटियों द्वारा उपभोक्ता को कुल १० आने + ८ आ० + ५ आ० + २ आ० + १ आ० = २६ आने की उपयोगिता प्राप्त हुई थी। यही कुल उपयोगिता हुई।

सीमान्त इकाई और सीमान्त उपयोगिता

एक उपभोक्ता को सीमान्त अथवा अन्तिम इकाई द्वारा जितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, वही सीमान्त उपयोगिता कहलाती है। उदाहरण के लिए, कोई मनुष्य यदि किसी वस्तु की ४ इकाइयाँ खरीदता है, तो चौथी इकाई के लिए अधिक-से-अधिक जितना पैसा देता है, वही उसकी सीमान्त उपयोगिता होगी। इकाइयों का मूल्य हम पैसे द्वारा आँकते हैं। उपयोगिता-ह्रासवाले नियम के अनुसार पहली इकाई के लिए आदमी अधिक-से-अधिक मूल्य देगा; दूसरी के लिए उससे कम। इसी प्रकार वह क्रमशः मूल्य में कमी करता जायगा। अन्तिम इकाई का मूल्य सबसे कम होगा। इसी अन्तिम इकाई का मूल्य सीमान्त उपयोगिता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. प्रश्न—उपयोगिता शब्द का अर्थ-शास्त्र में क्या अर्थ होता है ? यह कैसे नापी जाती है ?

उत्तर—किसी वस्तु में किसी एक आवश्यकता की पूर्त्ति करने की शक्ति को उपयोगिता कहते हैं। अर्थ-शास्त्र में कोई वस्तु हानिकारक या लाभदायक है, इसका विचार नहीं किया जाता; बल्कि यह दृष्टि-कोण रक्खा जाता है कि एक वस्तु से किसी एक आवश्यकता की पूर्त्ति होती है कि नहीं। यदि एक वस्तु से एक आवश्यकता की पूर्त्ति होती है तो यह समझा जाता है कि उसमें उपयोगिता है अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए, सिगरेट तथा शराब या अन्य मादक वस्तुओं में उपयोगिता है, क्योंकि इनसे आवश्यकता की पूर्त्ति होती है; यद्यपि ये वस्तुएँ हानिकारक हैं। उपयोगिता को हम रुपयों से भी नाप सकते हैं। साधारणतः जो वस्तु जितनी उपयोगी होती है, उसके लिए हम उतना ही व्यय करने को तैयार रहते हैं।

२. प्रश्न—क्रमागत उपयोगिता का ह्रास-नियम उदाहरण सहित समझा कर लिखिए।

उत्तर—व्यक्तिगत अनुभव से हम लोग यह बात जानते हैं कि किसी वस्तु के उपभोग में पहली इकाई से दूसरी की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है; तथा दूसरी इकाई की उपयोगिता तीसरी इकाई की अपेक्षा अधिक रहती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों हम और अधिक इकाइयों का उपभोग करते हैं, त्यों त्यों उपयोगिता में कमी होती है। इसका उदाहरण तथा चित्र पुस्तक में दिया गया है

३. प्रश्न—सम्पूर्ण उपयोगिता का क्या अर्थ होता है ? सम्पूर्ण उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—एक उपभोक्ता एक समय में जितनी इकाइयों का उपभोग करता है, उन सब इकाइयों की उपयोगिता के जोड़ को सम्पूर्ण उपयोगिता कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक मनुष्य एक समय में ६ रोटियों का उपभोग करता है, तो उसको सब रोटियों से क्रमशः इस प्रकार उपयोगिता मिलती है—

रोटी	उपयोगिता
पहली	१०
दूसरी	८
तीसरी	६
चौथी	५
पाँचवीं	४
छठी	३

अतः सब रोटियों की उपयोगिता = ३६ हुई।

जिस अन्तिम रोटी का उपभोग उपभोक्ता ने किया है, उसके द्वारा जो उपयोगिता प्राप्त हुई, वही सीमान्त उपयोगिता होगी। छठी रोटी द्वारा ३ उपयोगिता प्राप्त हुई है, यही सीमान्त उपयोगिता है।

४. प्रश्न—किसी वस्तु का जैसे-जैसे अधिक उपभोग होता है, वैसे-वैसे उसकी (क) कुल उपयोगिता बढ़ती है और (ख) सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। यह बात उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए।

उत्तर—पुस्तक में दिया गया है।

५. प्रश्न—क्रमागत उपयोगिता-ह्रासवाला नियम लागू होने के लिए 'अन्य बातें समान रहनी चाहिएँ'। इसमें के 'अन्य बातें समान रहनी चाहिएँ' वाक्यांश का क्या अर्थ है ?

उत्तर—क्रमागत उपयोगिता-ह्रास नियम के लागू होने के लिए नीचे लिखी दशाओं में परिवर्तन न होना चाहिए—

(क) उपभोग का समय एक ही होना चाहिए।

(ख) वस्तु की इकाइयों के परिमाण (तौल) तथा विशेषता में अन्तर न होना चाहिए।

(ग) मनुष्य की मानसिक दशा में परिवर्तन न होना चाहिए।

इन बातों का विस्तार-पूर्वक वर्णन पुस्तक में किया गया है।

४

व्यय तथा पारिवारिक बजट

धन कमाने की अपेक्षा धन व्यय करने में अधिक कुशलता तथा बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है। धन व्यय करने की कुशलता तथा चातुर्य पर ही हम लोगों का सुख तथा शान्ति निर्भर है। यदि ठीक ढंग से धन व्यय किया जाय तो थोड़े ही धन से अधिक उपयोगिता तथा सुख-शान्ति प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत यदि मनुष्य में व्यय-चातुर्य नहीं है तो अधिक धन व्यय करने पर भी उसे उचित उपयोगिता, सुख या शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

व्यय करने का नियम

आवश्यकताओं के लक्षणों में हम बतला चुके हैं कि वे आपस में स्पर्धा करती हैं। जो आवश्यकता अधिक आवश्यक होती है, उसकी पूर्त्ति पहले की जाती है; और जो कम आवश्यक होती है, उसकी पूर्त्ति बाद में की जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपना धन इस प्रकार व्यय करता है कि उसे अधिकतम उपयोगिता तथा सन्तुष्टि प्राप्त हो। मनुष्य धन व्यय करने में स्वभावतः इस नियम का पालन करता है। इस नियम को अधिकतम सन्तुष्टि का नियम या सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम कहते हैं।

सम-सीमांत उपयोगिता का नियम

(Law of Equi-Marginal Utility)

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपना धन इस प्रकार व्यय करता है कि उसको अधिक से अधिक उपयोगिता मिले। उदाहरण के लिए, जब बाजार में हम कुछ वस्तुएँ खरीदने जाते हैं, तब वही वस्तु पहले खरीदते हैं जिससे हमें अधिक से अधिक संतुष्टि मिले। इसे साधारण बोल-चाल की भाषा में यों कहते हैं कि अमुक वस्तु अत्यंत आवश्यक है, इसलिए उसे पहले खरीदना चाहिए। अर्थ-शास्त्र की भाषा में हम कहेंगे कि उस वस्तु से हमें अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी; इसलिए उसे पहले खरीदना चाहिए। उपयोगिता के अनुसार ही भिन्न-भिन्न वस्तुओं के खरीदने का क्रम रहता है।

सम-सीमांत उपयोगिता के नियम का अर्थ यह है कि अलग-अलग चीजों पर हम जो कुछ व्यय करते हैं, उनमें से हर व्यय की अन्तिम सीमांत इकाई से हमें जो उपयोगिता प्राप्त होती है, वह बराबर-बराबर होती है; अर्थात् सीमांत इकाइयों से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सम होगी। इसी कारण इस नियम का नाम सम-सीमांत उपयोगिता का नियम रखा गया है।

उपर्युक्त नियम हम एक उदाहरण द्वारा भली भाँति समझा सकते हैं। उदाहणार्थ, एक भूखा मनुष्य है। उसे भोजन बनाने के लिए आटा, दाल, चावल, लकड़ी तथा साग-भाजी की आवश्यकता है। मान लीजिए कि वह एक-एक आने की हर चीज खरीदता चलता है। उसके लिए भिन्न-भिन्न वस्तुओं की भिन्न-भिन्न इकाइयों की उपयोगिता इस प्रकार होगी—

प्राप्त उपयोगिता

	आटा	चावल	दाल	साग-भाजी	लकड़ी
१ आने से प्राप्त	१००	९५	७०	८०	९६
२ ,, ,,	९०	८०	६०	६५	८५
३ ,, ,,	७०	६०	४५	६०	६०
४ ,, ,,	६०	५०	२०	३५	४०
५ ,, ,,	५०	३५	५	२०	२५
६ ,, ,,	३०	१५	४	१०	[illegible]
७ ,, ,,	०	०	०	०	०

आदमी पहला आना आटे पर खर्च करेगा, क्योंकि आटे से सबसे अधिक उपयोगिता (१००) प्राप्त होती है। दूसरा आना वह लकड़ी पर व्यय करेगा, क्योंकि आटे के बाद लकड़ी से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। इसी प्रकार वह उपयोगिता के विचार से चार आने का आटा, तीन आने का चावल, दो आने की दाल, तीन आने की लकड़ी तथा तीन आने की साग-भाजी खरीदेगा।

उस व्यक्ति की दृष्टि से एक आने की उपयोगिता ६० इकाइयों के बराबर है। इसी कारण उसने किसी ऐसी वस्तु की ऐसी इकाई नहीं खरीदी जिसकी उपयोगिता ६० इकाइयों से कम हो।

अन्तिम ५ आनों को उसने प्रत्येक वस्तु पर व्यय किया है, क्योंकि अन्तिम ५ आनों में प्रत्येक आने से समान उपयोगिता और अधिक से अधिक सन्तुष्टि मिलती है। इसी लिए इसे सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम कहते हैं।

उत्पत्ति के क्षेत्र में सम-सीमान्त उपयोगिता

सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम केवल उपभोग के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि उत्पत्ति के क्षेत्र में भी काम आता है। एक मिल-

मालिक वस्तुओं का निर्माण करने में अपनी पूँजी का विभाजन उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों (भूमि, श्रम, मशीन, इमारत, व्यवस्था आदि) में इस ढंग से करता है कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो और भिन्न-भिन्न साधनों पर व्यय की हुई अन्तिम इकाइयों से समान उपयोगिता तथा लाभ प्राप्त हो।

यदि एक साधन की अन्तिम इकाई से उसे अधिक लाभ होता है तथा दूसरे साधन की अन्तिम इकाई से कम लाभ होता है, तो वह पहले साधन की और अधिक इकाइयाँ लेगा तथा दूसरे साधन की कुछ इकाइयाँ कम कर देगा। पहले साधन की इकाइयाँ बढ़ाने से सीमान्त उपयोगिता घटती जायगी; तथा दूसरे साधन की इकाइयाँ कम करने से उस साधन की अन्तिम इकाई की उपयोगिता बढ़ती जायगी। एक समय ऐसा आवेगा, जब दोनों साधनों की अन्तिम इकाइयों से बराबर लाभ होगा, अर्थात् उसे सीमान्त उपयोगिता या उसका लाभ प्राप्त होगा।

पारिवारिक बजट का अर्थ

पारिवारिक बजट आय-व्यय वह व्योरा है जिससे एक परिवार या कुटुम्ब के एक निश्चित समय की आमदनी और खर्च का पता चलता है। साधारणतः पारिवारिक बजट एक मास या एक वर्ष का बनाया जाता है। वैसे तो बजट हर सप्ताह, पखवाड़े या दिन का भी हो सकता है; पर साधारणतः एक परिवार में एक मास में जितनी आमदनी और जितना व्यय होता है, वही उसके बजट में दिखाया जाता है।

७५) मासिक वेतन पानेवाले क्लर्क शिवप्रसाद का पारिवारिक बजट

नाम—शिवप्रसाद।

मासिक आय—७५) एक स्कूल में क्लर्क हैं।

स्थान—दारानगर, बनारस।

परिवार में सदस्य—१ स्त्री और २ लड़के (एक लड़का ९ वें दरजे में और दूसरा ६ ठे में पढ़ता है)।

व्यय की मद	रु०	लगभग प्रति शत
१. भोजन	३०)	४०%
२. कपड़ा	१०)	१३$\frac{1}{3}$%
३. मकान का किराया	७)	१०%
४. ईंधन और रोशनी	७)	१०%
५. शिक्षा	४)	(लड़कों की फीस माफ है) ५$\frac{1}{3}$%
६. आमोद-प्रमोद	३)	४%
७. अन्य व्यय	१०)	१३$\frac{1}{3}$%
८. बचत	३)	४%
	७५)	१००%

पारिवारिक बजट से लाभ

इस प्रकार का बजट बनाने से अनेक लाभ होते हैं, जिनका वर्गी-करण इस प्रकार है—

(१) परिवार के लिए—पारिवारिक बजट बनाने से यह पता चलता है कि परिवार पर ऋण चढ़ रहा है या बचत हो रही है।

यदि ऋण होता रहेगा तो परिवार का मालिक खर्च कम कर देग और ऋण से जितनी खराबियाँ होती हैं, उनसे छुटकारा पा जायगा

(२) अर्थ-शास्त्र का अध्ययन करनेवालों के लिए--भिन्न-भि श्रेणियों के मनुष्यों के पारिवारिक वजट का अध्ययन करके बहु से नियम निकाले गये हैं। ऐसे पारिवारिक वजटों का अध्ययन कर ही एंजिल साहब ने अपना नियम निकाला था, जो आगे चलक बतलाया जायगा।

(३) देश-सुधारकों के लिए—देश के सुधारक लोग ऐ वजट देखकर यह पता लगाते हैं कि साधारण जनता को जीव रक्षक या अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो रही हैं या नहीं। य नहीं प्राप्त होती हैं तो उनके लिए वे प्रयत्न करते हैं।

(४) राजनीतिज्ञों तथा सरकार के लिए—वजट के अध्ययन ही भिन्न-भिन्न कर लगाये जाते हैं। साधारणतः जीवन-रक्षक वस्तु पर कर नहीं लगाये जाते। वजट के अध्ययन से पता चलता है वि कौन वस्तु आवश्यक है अथवा कौन आराम देनेवाली और कौ विलासिता की वस्तु है। और इन्हीं के हिसाव से कर लगाय जाता है।

भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मनुष्यों के पारिवारिक वजट बनाने एक महत्त्वपूर्ण नियम वना है जो एंजिल का नियम कहलाता और जिसका जिक्र ऊपर हो चुका है। यहाँ हम उसी नियम क कुछ मुख्य-मुख्य वातें वतलाते हैं।

एंजिल का नियम

पारिवारिक वजट के अध्ययन से अनेक लाभ होते हैं, जिनक वर्णन ऊपर किया गया है। अर्थ-शास्त्र के पंडित एंजिल ने इ प्रकार के वजट के अध्ययन से कुछ नियम बनाये हैं।

उन्होंने जरमनी देश के सेक्सोनी स्टेट के भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मनुष्यों के पारिवारिक बजट का अध्ययन किया था और उसके आधार पर यह निश्चय किया था कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की आय बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों—

(१) भोजन पर किया जानेवाला व्यय प्रति शत घटता जाता है।

(२) वस्त्र, रोशनी और मकान के किराये पर किया जानेवाला व्यय प्रति शत समान रहता है। और

(३) शिक्षा, मनोरंजन तथा स्वास्थ्य पर प्रति शत अधिक व्यय किया जाता है।

यह नियम हम इस प्रकार समझ सकते हैं। मान लीजिए, एक आदमी की आय २००) मासिक है, और उसका भोजन पर प्रति मास ८०) व्यय होता है। अब यदि उसकी मासिक आय ४००) हो जाती है तो इसका यह मतलब नहीं कि अब उसका भोजन पर होने-वाला व्यय भी उसी अनुपात में दूना हो जायगा। जितना दाल-भात वह पहले खाता था, उतना ही वह अब भी खायगा। हाँ, इतना अवश्य है कि उसके भोजन के रूप, प्रकार या गुण (quality) में अवश्व अंतर हो जायगा, पर मात्रा में नहीं। इससे उसका व्यय पहले से अवश्य बढ़ जायगा; पर ठीक उस हिसाब से नहीं बढ़ेगा, जिस हिसाब से आय बढ़ी है, बल्कि कम अनुपात में बढ़ेगा।

आय में जिस अनुपात से वृद्धि होती है, ठीक उसी अनुपात से वस्त्र, मकान के किराये, रोशनी और ईंधन पर व्यय बढ़ जाता है। आय बढ़ने पर हम पहले से अच्छा मकान किराये पर लेते हैं और बढिया कपड़े सिलवाते है। पहले एक ही जूता था, तो अब दो जूते रखते हैं। पहले मिट्टी का तेल जलाते थे, तो अब घर में बिजली लगवा लेते हैं, आदि।

आय बढ़ने से शिक्षा, मनोरंजन तथा स्वास्थ्य पर भी प्रति शत

अधिक व्यय होने लगता है। पहले हम घर में चाय पी लेते थे अब होटल में जाकर चाय पीते हैं। साथ में नमकीन या मीठा भी होता है। अब कभी शिमले की सैर होती है तो कभी कलकत्ते की। शिक्षा पर भी व्यय बढ़ जाता है। बच्चों को घर पर पढ़ाने के लिए एक शिक्षक रख लिया जाता है। आदि-आदि।

इस प्रकार हम देखते है कि एंजिल के नियम में बहुत कुछ सत्यता है।

नीचे की सारिणी से यह सूचित होता है कि आय बढ़ने से व्यय की मदों में कैसा और कितना अंतर पड़ता है।

व्यय की मदें	आय २००)	प्रति शत	आय ४००)	प्रति शत
१. भोजन	८०)	४०%	१४०)	३५%
२. वस्त्र, मकान का किराया, ईंधन, रोशनी आदि	३६)	१८%	७२)	१८%
३. शिक्षा, मनोरंजन, स्वास्थ्य आदि	८४)	४२%	१८८)	४७%

रहन-सहन का दरजा

रहन-सहन के दरजे का अभिप्राय यह होता है कि मनुष्य की कितनी आय है और वह अपनी आय किस प्रकार व्यय करता है। आय से यह पता चलता है कि मनुष्य किन-किन वस्तुओं का उपभोग कर सकता है। रहन-सहन का दरजा निर्धारित करने में विशेष ध्यान देने योग्य बात व्यय करने की चतुराई होती है; क्योंकि इसी के आधार पर यह पता चलता है कि जिन वस्तुओं का उपभोग

हो रहा है, उनसे उपभोक्ता की कार्य-क्षमता या कार्य-कुशलता की वृद्धि हो रही है या नहीं। केवल आय देखकर हम यह नहीं कह सकते कि रहन-सहन का दरजा ऊँचा है या नीचा। इसके साथ व्यय-चातुर्य का पता लगाना भी आवश्यक होता है। यह बात हम नीचे लिखे उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं।

मान लीजिए कि एक मनुष्य की मासिक आय १००) है और दूसरे की २००) है। साधारणतः लोग कह सकते हैं कि दूसरे मनुष्य की रहन-सहन का दरजा पहले मनुष्य की रहन-सहन से ऊँचा होगा। पर इसका ठीक निर्णय हम उसी दशा में कर सकते हैं, जब हम यह जान लें कि दोनों का व्यय-चातुर्य कैसा है—दोनों किस ढंग से व्यय करते हैं। यदि पहला मनुष्य अपनी आय इस ढंग से व्यय करता है कि उसकी कार्य-कुशलता बढ़ती है—अर्थात् वह ऐसी वस्तुओं का उपभोग करता है जो पौष्टिक हैं और उसके स्वास्थ्य की वृद्धि करते हैं, वह ऐसे कपड़े पहनता है जिनसे उसका शरीर कार्य करने के योग्य बना रहता है, और ऐसे मकान में रहता है जो हवादार है—तो उसकी रहन-सहन का दरजा उस मनुष्य की रहन-सहन से ऊँचा होगा जो २००) मासिक व्यय करके भी ऐसी वस्तुओं का प्रयोग करता है जो हानिकारक हैं। यदि वह शराब पीता है और दुष्कर्म करता है, जिससे उसका पतन होता है, तो उसकी रहन-सहन का दरजा नीचा ही कहा जायगा।

भारत में रहन-सहन का दरजा

हमारे देश में रहन-सहन का दरजा अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा बहुत नीचा है। इसके कई कारण हैं। यदि इनका सुधार किया जाय तो रहन-सहन का दरजा ऊँचा हो सकता है। सुधार इस प्रकार हो सकते हैं—

(१) उत्पत्ति में वृद्धि—सर्व-प्रथम हम लोगों को अपने देश की उत्पत्ति बढ़ाना है। हमारे देश की औसत आय आठ या दस आने प्रति व्यक्ति प्रति दिन है। उत्पत्ति की दृष्टि से आबादी अधिक है और आबादी भी दिन-प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है। हमें ऐसे साधनों का प्रयोग करना चाहिए जिनसे उत्पत्ति बढ़े। भारत खेतिहर देश है, फिर भी हर साल हम विदेशों से गल्ला मँगाते हैं। इससे अधिक हीन दशा और क्या हो सकती है!

(२) शिक्षा की उन्नति—शिक्षा की हमारे देश में बहुत कमी है। केवल ९ प्रति शत व्यक्ति शिक्षित हैं। अन्य देशों में ९० प्रति शत तक लोग पढ़े-लिखे हैं। यदि शिक्षा का प्रसार हो तो हमारे देश की बहुत-सी खराबियाँ दूर हो जायँ और प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व समझने लगे।

(३) मकानों की समस्या—हमारे देश में मकानों की समस्या भी बहुत टेढ़ी है। देहातों में जितने मकान होते हैं, उनमें हवा और रोशनी का प्रवेश बहुत कम होता है। मकानों के चारों ओर प्रायः गन्दगी पाई जाती है, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शहरों में यह समस्या और भी जटिल है। औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों को अच्छा निवास-स्थान नहीं मिलता। एक एक कमरे में १५–२० मजदूरों को रहना पड़ता है। यह कठिनाई सरकार दूर कर सकती है। मिल-मालिकों को भी मजदूरों के लिए अच्छी बस्तियाँ बनवानी चाहिएँ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम समझाइए।

उत्तर—इस नियम का अभिप्राय यह है कि हम लोग अपना धन इस प्रकार व्यय करते हैं कि व्यय की हुई अन्तिम इकाई से

समान उपयोगिता प्राप्त हो। इस प्रकार व्यय करने में अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है। इसी कारण इस नियम को अधिकतम संतुष्टि का नियम भी कहते हैं। यह नियम उपभोग तथा उत्पत्ति के क्षेत्र में लागू होता है। उदाहरण तथा विस्तृत वर्णन ऊपर यथा-स्थान दिया गया है।

२—पारिवारिक बजट क्या है? इसके अध्ययन से क्या लाभ होते हैं?

उत्तर—एक कुटुम्ब के एक निश्चित समय के साधारणतः एक मास के आय और व्यय के ब्योरे को पारिवारिक बजट कहते हैं। इसके अध्ययन से ये लाभ होते हैं—

(क) परिवार ऋण-ग्रस्त नहीं होने पाता।

(ख) अर्थ-शास्त्र के अध्ययन में सहायता मिलती है। अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है, जैसे एन्जिल साहब को अपने अनुसन्धान से कई बातों का पता चला था।

(ग) जनता की रहन-सहन के दरजे का पता चलता है। विशेष बातें पुस्तक में देखिए।

३—१००) मासिक वेतन पानेवाले एक ऐसे क्लर्क का पारिवारिक बजट बनाइए, जिसके कुटुम्ब में स्वयं वह, उसकी स्त्री तथा चार छोटे बच्चे हैं, जिनमें से दो बच्चे प्राइमरी स्कूल में पढ़ते हैं।

उत्तर—बजट बनाने का ढंग और नमूना पुस्तक में ऊपर दिया गया है। उसी के अनुसार बजट बनाकर दिखाना चाहिए।

४—एन्जिल का नियम उदाहरण सहित समझाइए।

उत्तर—ऊपर नियम और उदाहरण दोनों दिये जा चुके हैं।

५—रहन-सहन के दरजे का क्या अर्थ है? भारतवासियों की रहन-सहन के दरजे के नीचे होने का कारण तथा उन्नति के उपाय बताइए।

उत्तर—ऊपर ये बातें बतला दी गई हैं।

५

उत्पत्ति

उत्पत्ति का अर्थ--साधारण भाषा में 'उत्पत्ति' का अर्थ पैद करना या निर्माण करना है। परन्तु अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में इसक अर्थ होता है—किसी चीज की उपयोगिता बढ़ाना। मनुष्य कोई वस् उत्पन्न नहीं कर सकता। जितनी वस्तुएँ संसार में उत्पन्न हुई है उनकी मात्रा में कमी या वृद्धि नहीं की जा सकती। मनुष्य उनक केवल रूपान्तर करता है। इसी उत्पत्ति करने में यदि उपयोगित की वृद्धि होती है, तो उसे हम 'उत्पत्ति' कहते हैं। उदाहरण लिए, एक बढ़ई एक लकड़ी के टुकड़े को काट-छाँटकर एक कुरस बनाता है। अर्थात् उस लकड़ी के टुकड़े का वह इस प्रकार रूपान्त कर देता है कि उसमें एक नवीन उपयोगिता, जो पहले नहीं थ आ जाती है। इसी को हम 'उत्पत्ति' कहते हैं।

नीचे लिखे रूपों में यह उपयोगिता बढ़ती है—

१—रूप-परिवर्तन,

२—स्थान-परिवर्तन,

३—कुछ समय तक वस्तुओं का संचय,

४—अधिकार-परिवर्तन और

५—सेवा।

(१) रूप-परिवर्त्तन—बहुत-सी वस्तुओं में उनकी शकल या ह बदल देने से ही उपयोगिता आ जाती है। जैसे लकड़ी की शक बदल देने से कुरसी, मेज, आलमारी या चौकी बन जाती है।

(२) स्थान-परिवर्तन—स्थान-परिवर्तन से भी वस्तुओं में अधिक उपयोगिता लाई जाती है। जैसे—नदी के किनारे का बालू यदि शहर या बस्ती में लाया जाय, तो वह अधिक उपयोगी हो जाता है। इसी तरह यदि जंगल की लकड़ी शहर में लाई जाती है तो उसका मूल्य बढ़ जाता है, अर्थात् वह अधिक उपयोगी हो जाती है।

(३) संचय—कुछ वस्तुओं को बहुत समय तक संचित रखने से भी उनकी उपयोगिता बढ़ती है। उदाहरण के लिए शराब या चावल यदि अधिक दिनों तक संचित करके रखा जाय तो उसका मूल्य अधिक बढ़ जाता है और वह अधिक उपयोगी हो जाता है।

(४) अधिकार-परिवर्तन—अधिकार-परिवर्तन करने से भी किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ती है। उदाहरण के लिए, एक दूकान से जब हम कोई चीज खरीदते हैं, तो वह हमारे लिए अधिक उपयोगी होती है। तभी तो हम उसके लिए पूरा मूल्य देते हैं। पर स्वयं दूकानदार के लिए वह कम उपयोगी होती है। एक विद्यार्थी जब एक पुस्तक एक दूकानदार से खरीदता है, तब वह पुस्तक उस विद्यार्थी के लिए दूकानदार की अपेक्षा अधिक उपयोगी होती है।

(५) सेवा—सेवा द्वारा भी उपयोगिता की वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, भोजन करने के बाद बरतन जूठे हो जाते हैं और उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। लेकिन जब मजदूरनी अपनी सेवा से वही बरतन धो-माँजकर साफ कर देती है, तब फिर वे बरतन उपयोगी हो जाते हैं और हम फिर उनका उपयोग करते हैं।

उत्पत्ति और उपभोग की तुलना

आप पूछ सकते हैं कि उपभोग के आश्रित उत्पत्ति होती है, अथवा उत्पत्ति के आश्रित उपभोग होता है।

कुछ दिन पहले उत्पत्ति को ही अधिक महत्व दिया जाता था और यह समझा जाता था कि जितनी ही अधिक उत्पत्ति होगी उतना ही समाज सुखी होगा। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अब पता चलता है कि उत्पत्ति से कहीं अधिक महत्त्व का विषय वस्तुओं का उपभोग है। यदि उत्पत्ति का अधिकतर भाग केवल थोड़े से व्यक्तियों के उपभोग में आता हो और समाज के दूसरे व्यक्तियों के लिए उसका थोड़ा ही अंश बचता हो, तो अधिक उत्पत्ति से भी समाज सुखी नहीं हो सकता। यही बात हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यदि उत्पत्ति से उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं होती, तो वह उत्पत्ति निरर्थक है इसलिए सारी उत्पत्ति उपभोक्ता की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर की जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उपभोग उत्पत्ति से कहीं अधिक महत्त्व रखता है।

इसी बात से यह भी सिद्ध होता है कि उपभोग के आश्रित उत्पत्ति होती है, लेकिन उत्पत्ति उपभोग को प्रोत्साहित करती है।

उत्पत्ति के साधन

उत्पत्ति के निम्न-लिखित साधन हैं—

१—भूमि, २—श्रम, ३—पूँजी, ४—प्रबन्ध और ५—साहस

(१) भूमि—भूमि शब्द अर्थ-शास्त्र में अधिक व्यापक अर्थ रखता है। भूमि शब्द से अभिप्राय केवल पृथ्वी के उसी धरातल से नहीं है, जिस पर, हम रहते हैं, बल्कि प्रकृति की समस्त देन से है। इसके अन्तर्गत पृथ्वी के धरातल पर, धरातल के नीचे तथा धरातल के ऊपर की समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए, खनिज पदार्थ, नदी, पहाड़, झील, समुद्र, जल-वायु

सूर्य्य का प्रकाश आदि। जिस धरातल पर हम रहते हैं, उसके अतिरिक्त समस्त प्रकृति की देन को भी हम 'भूमि' कहते हैं। इसके अन्तर्गत सूर्य की गरमी, रोशनी, वर्षा आदि भी हैं।

(२) श्रम—किसी प्रकार का उद्योग, चाहे शारीरिक हो अथवा मानसिक, जो धन प्राप्त करने के लिए किया गया हो, श्रम कहलाता है। बिना श्रम के उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वही श्रम अर्थ-शास्त्र में श्रम कहा जाता है, जो धन कमाने के लिए किया जाता है। जो श्रम केवल मनोविनोद के लिए किया जाता हो अर्थात् जिस श्रम से धन न पैदा होता हो, उस श्रम को अर्थ-शास्त्र में श्रम नहीं कहा जायगा। उदाहरण के लिए, फुट-बाल खेलना, प्रातःकाल टहलना आदि श्रम के अन्दर नहीं आते।

(३) पूँजी—धन का वह भाग जो और अधिक धन उत्पन्न करने के लिए लगाया जाता है, पूँजी कहलाता है। उदाहरण के लिए, किसान का हल, बैल, बीज आदि उसकी पूँजी हैं। मिल मालिकों के लिए मिल की इमारत, मिल की मशीनें, कच्चा माल आदि पूँजी हैं, क्योंकि इन सब से वे और अधिक धन कमाते हैं।

(४) प्रबन्ध—इसमें उत्पत्ति के अन्य सब साधनों में इस प्रकार सहयोग स्थापित किया जाता है कि अधिक से अधिक उत्पत्ति हो। इसी को प्रबन्ध कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी वस्तु के बनाने का कारखाना खोलना है तो कितने कच्चे माल की आवश्यकता होगी, कितनी पूँजी लगाई जाय और कितने श्रम की आवश्यकता होगी, यह सब निश्चय करने का कार्य प्रबन्ध है।

(५) साहस या जोखिम—किसी व्यवसाय में जो हानि अथवा लाभ हो सकता है, उसी का विचार साहस कहा जाता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—'उत्पत्ति' शब्द का क्या अर्थ है ? यह कितने प्रकार से बढ़ाई सकती है ?

उत्तर—अर्थ-शास्त्र में उत्पत्ति शब्द का अर्थ उपयोगिता की वृद्धि करना है। मनुष्य न तो किसी वस्तु का निर्माण कर सकता है न कोई वस्तु नष्ट कर सकता है। वह केवल उसकी उपयोगिता की वृद्धि या ह्रास कर सकता है।

उत्पत्ति नीचे लिखे प्रकारों से बढ़ाई जा सकती है—

(क) रूप-परिवर्तन,

(ख) स्थान-परिवर्तन,

(ग) समय-परिवर्तन और

(घ) सेवा के द्वारा।

२—उत्पत्ति तथा उपभोग का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—उत्पत्ति तथा उपभोग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। समस्त उत्पत्तियाँ उपभोग के सहारे होती हैं। अर्थात् वस्तुओं में उपयोगिता इसी दृष्टि-कोण से बढ़ाई जाती है कि उनसे मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो। उत्पत्ति के सहारे उपभोग नहीं रहता बल्कि उपभोग के सहारे उत्पत्ति रहती है। हाँ, नवीन प्रकार की उत्पत्तियाँ उपभोग की आवश्यकताएँ बढ़ाती हैं।

३—उत्पत्ति के कितने साधन हैं ?

उत्तर—उत्पत्ति के पाँच साधन हैं--भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस। उत्पत्ति के ये साधन प्रत्येक वस्तु के निर्माण में आवश्यक हैं, चाहे उत्पत्ति छोटे पैमाने पर हो, चाहे बड़े पैमाने पर। उदाहरण के लिए, कुटीर उद्योग-धन्धों में भी इन साधनों की आवश्यकता होती है।

६

भूमि

भूमि का अर्थ

साधारण बोल-चाल की भाषा में 'भूमि' शब्द से हम यह अर्थ समझते हैं—पृथ्वी का धरातल जिसपर हम लोग रहते हैं। परन्तु अर्थ-शास्त्र में इसका अर्थ और भी व्यापक है। इसका अभिप्राय प्रकृति की देन से होता है। अर्थात् वे समस्त वस्तुएँ भूमि कही जाती हैं जिन्हें प्रकृति ने उत्पन्न किया हो। और मनुष्य ने जिनके निर्माण में कुछ भी सहायता न की हो, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पृथ्वी के अन्दर, उसकी सतह पर तथा सतह से ऊपर आकाश तक सब वस्तुएँ, जिन्हें प्रकृति ने उत्पन्न किया है और जिनके निर्माण में मनुष्य ने श्रम नहीं किया, सब भूमि कही जायँगी। इस परिभाषा के अनुसार हम देखते हैं कि जंगल की लकड़ियाँ, पशु-पक्षी, जड़ी-बूटियाँ, खनिज पदार्थ, समुद्र, पहाड़, नदी, झील, वर्षा, गर्मी, सर्दी, जल-वायु, रोशनी, धूप आदि सब वस्तुएँ भूमि कही जाती हैं। ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि ये सब वस्तुएँ उसी समय तक भूमि होंगी, जब तक मनुष्य ने इनके लिए कुछ श्रम न किया हो। उदाहरण के लिए, जंगल में एक पेड़ सूखा पड़ा है। वह भूमि कहा जायगा। मनुष्य जब उस पेड़ की लकड़ी काट कर ले आवेगा, तब यह धन हो जायगा; क्योंकि मनुष्य ने उसके लिए श्रम किया है। एक चिड़िया जब तक जंगल में उड़ती रहती है, भूमि कही

जायगी। जब वह पकड़ ली जायगी तो भूमि नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसे पकड़ने के लिए मनुष्य ने श्रम किया है।

भूमि के लक्षण

भूमि के ये लक्षण हैं—

(१) भूमि सीमित है—अर्थात् भूमि घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। उसमें हम जो कुछ घटती तथा बढ़ती देखते हैं, वह केवल रूपान्तर रहता है।

(२) भूमि अक्षय है—भूमि नष्ट नहीं की जा सकती, केवल उसके रूप में परिवर्तन हो जाते हैं। सृष्टि की रचना के समय जितनी भूमि की मात्रा उत्पन्न हुई थी, उसी में रूपान्तर होता रहता है।

(३) भूमि प्रकृति की देन है—भूमि के लिए मनुष्य ने कुछ व्यय नहीं किया है। वह प्रकृति ने दी है।

(४) भूमि का स्थान-परिवर्तन नहीं किया जा सकता—यदि हम चाहें कि एक स्थान की भूमि उठाकर दूसरे स्थान पर ले जायँ, तो यह सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए, हमारे सामने का मैदान, वहाँ का प्रकाश, वर्षा आदि दूसरी जगह नहीं भेजी जा सकतीं।

भूमि की कार्य-क्षमता

भूमि की कार्य-क्षमता का अभिप्राय उसकी उर्वरा शक्ति से है। जिस योग्य जो भूमि हो, उसी के अनुसार उससे उत्पत्ति करनी चाहिए। यदि खेती के योग्य भूमि का कोई टुकड़ा गेहूँ उत्पन्न करने के योग्य हो और गेहूँ न बोकर उसमें रूई बोई जाय तो उसकी कार्य-क्षमता में कमी होगी। इसके सिवा यदि कँकरीली अथवा बंजर भूमि में खेती की जाय तो वहाँ भी उत्पत्ति अधिक न होगी।

भूमि की कार्य-क्षमता निम्न-लिखित बातों पर निर्भर है—

(१) प्राकृतिक कारण—भूमि के टुकड़ों की उर्वरा शक्ति में भिन्नता होती है। इस उर्वरा शक्ति की कमी अथवा अधिकता प्रकृति के आधार पर होती है। यद्यपि हम खाद से उर्वरा शक्ति बढ़ा सकते हैं, लेकिन उपज बढ़ाने के अन्य साधनों (जैसे जल-वायु आदि) में अधिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अतः भूमि की कार्य-क्षमता प्रकृति पर निर्भर है।

(२) प्रबन्धक की योग्यता—प्रबन्धक की योग्यता पर भी बहुत अंशों में उपज निर्भर करती है। प्रबन्धक में जितनी कार्य-कुशलता होगी, उसी के अनुसार भूमि की उपज भी अधिक या कम होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि भूमि की कार्य-क्षमता में वृद्धि करना हो, तो प्रबन्धक का कार्य-कुशल होना अत्यन्त आवश्यक है।

भारत की भूमि

भारत को प्रकृति की देन अधिक मात्रा में प्राप्त है, लेकिन अभी तक उसका उचित उपयोग नहीं हो सका है। इसी लिए प्रायः कहा जाता है कि भारतवर्ष तो धनी देश है, लेकिन यहाँ के निवासी गरीब हैं।

यहाँ खेती के योग्य भूमि की अधिकता है। यहाँ ८० प्रति शत जनता खेती पर निर्वाह करती है। यहाँ बारहो महीने जल से भरी रहनेवाली नदियाँ हैं, जिनसे सिंचाई की जाती है। वर्षा की भी कमी नहीं है। साल में दो फसलें तैयार की जाती हैं। सिन्धु-गंगा का मैदान अपनी उर्वरा-शक्ति के लिए संसार भर में प्रसिद्ध है। यहाँ के जंगलों से भी अधिक मात्रा में औद्योगिक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। खनिज पदार्थों की भी यहाँ प्रचुरता है। परन्तु हमारे देश में कल-कारखाने न होने के कारण इन सब चीजों का उचित उपयोग नहीं

होता। यहाँ शक्ति उत्पन्न करने के साधन भी प्राप्त हैं। कोयले के अतिरिक्त जल-विद्युत्-शक्ति के साधन भी हैं। दक्षिण की नदियों से, जो अपने बहाव से झरने बनाती हैं, यथेष्ट जल-विद्युत-शक्ति उत्पन्न की जा सकती है, जिससे कल-कारखाने चल सकते हैं और सिंचाई की भी अच्छी व्यवस्था हो सकती है। कांग्रेस सरकार ने अपनी पंच-वर्षीय योजना में इस ओर समुचित ध्यान दिया है। आशा है, कुछ वर्षों में हमारे देश की आशातीत उन्नति हो जायगी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—'भूमि' शब्द का अर्थ-शास्त्र में क्या अर्थ है? स्पष्ट रूप से समझाइए।

उत्तर—अर्थ-शास्त्र में 'भूमि' शब्द का अर्थ प्रकृति की देन है। जितनी वस्तुएँ हम देखते हैं और जिन्हें मनुष्य ने नहीं बनाया है, वे सब प्रकृति की देन या भूमि कही जाती हैं। पृथ्वी के धरातल की वस्तुएँ, धरातल के नीचे की वस्तुएँ (जैसे खनिज पदार्थ) तथा धरातल के ऊपर की वस्तुएँ सब 'भूमि' कही जाती हैं। इसके अन्तर्गत पहाड़, नदी, झील, समुद्र, गरमी-सरदी, वर्षा, सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकाश, जंगल के पशु-पक्षी आदि सभी चीजें आ जाती हैं। किसी चीज के सम्बन्ध में यह जानने के लिए कि वह भूमि है या नहीं, हमें यही विचार करना चाहिए कि इस वस्तु का निर्माण मनुष्य ने किया है या प्रकृति ने। यदि प्रकृति के द्वारा उसका निर्माण हुआ है, तो वह 'भूमि' है, अन्यथा नहीं।

२—'भूमि' के क्या लक्षण हैं?

उत्तर—भूमि के लक्षण ये हैं—

(क) भूमि 'प्रकृति की देन' है।

(ख) भूमि स्थायी है।

(ग) भूमि अक्षय है।

(घ) भूमि एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकती।

(ङ) भूमि स्वयं धन नहीं उत्पन्न करती, अर्थात् वह निष्क्रिय है।

३—कुछ ऐसे पदार्थों के नाम बताइए जिन्हें भूमि कह सकें।

उत्तर—(क) जंगल के पशु-पक्षी।

(ख) वायु।

(ग) वर्षा।

(घ) गरमी-सरदी।

ये सभी वस्तुएँ 'भूमि' के अन्तर्गत है।

७

श्रम

किसी प्रकार का प्रयत्न, चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, परन्तु जो मनोरंजन के लिए न किया गया हो, बल्कि किसी दूसरे ध्येय से (धन कमाने के लिए) किया गया हो, अर्थ-शास्त्र में श्रम कहलाता है। उदाहरण के लिए, टेनिस खेलनेवाला यदि अपने मनोविनोद के लिए टेनिस खेलता है, तो यह श्रम नहीं है ; क्योंकि इस कार्य से उसे धन नहीं प्राप्त होता। यदि वही खेलनेवाला अपने खेल से धन कमाता है, तो इस दशा में उसका श्रम 'श्रम' कहा जायगा, क्योंकि उससे धन की प्राप्ति होती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अर्थ-शास्त्र में मनुष्य का श्रम ही 'श्रम' कहलाता है; पशु-पक्षियों के श्रम को 'श्रम' नहीं कहते। समस्त धन की उत्पत्ति भूमि और श्रम के सहयोग से ही होती है, जिसमें श्रम का सक्रिय भाग या सहयोग होता है। इसी लिए उत्पत्ति के मुख्य साधन भूमि और श्रम हैं।

श्रम के लक्षण

(१) श्रम, श्रमी का एक अंग होता है। अर्थात् श्रमी, श्रम को अपने से अलग नहीं कर सकता।

(२) श्रम नाशवान् है। एक श्रमी अपना श्रम संचित नहीं कर सकता। यदि वह कुछ दिन तक श्रम न करे और यह चाहे कि

एक ही दिन में दस दिनों का काम पूरा कर ले, तो ऐसा नहीं हो सकता।

(३) एक श्रमी को श्रम करने योग्य होने में कुछ लागत-व्यय भी होता है। यह साधारण अनुभव की वात है कि प्रत्येक कार्य करने में थोड़ी-बहुत शिक्षा अथवा जानकारी की आवश्यकता होती है, जिसे प्राप्त करने में धन व्यय होता है। यही उसका लागत-व्यय है।

(४) श्रम में कमी या वृद्धि की जा सकती है। उत्पत्ति की आवश्यकता के अनुसार हम कम या अधिक श्रम करते हैं।

श्रम और भूमि की तुलना

धन कमाने के लिए जो श्रम किया जाता है, अर्थ-शास्त्र में उसी को श्रम कहते हैं। श्रम और भूमि की तुलना इस प्रकार की जाती है—

भूमि	श्रम
(१) भूमि प्रकृति की देन है, इसमें लागत-व्यय कुछ नहीं होता।	(१) श्रम में लागत-व्यय होता है। एक श्रमी को शिक्षित तथा कोई कार्य करने के योग्य बनने में धन की आवश्यकता होती है।
(२) भूमि अक्षय है। जितनी भूमि की मात्रा सृष्टि की रचना के समय हुई थी, उतनी ही सदैव बनी रहेगी। उसका केवल रूपान्तर होता रहता है।	(२) श्रम नाशवान है। यदि एक श्रमी एक दिन काम नहीं करता तो यह बचाया हुआ श्रम वह दूसरे दिन के लिए संचित नहीं कर सकता।

(३) भूमि अपने स्थान पर स्थिर रहती है। उसका स्थान नहीं बदला जा सकता। यदि हम चाहें तो भी अपने देश की भूमि दूसरे देश में नहीं भेज सकते।

(३) श्रम अपने स्थान पर स्थिर नहीं रहता। जिस स्थान पर श्रमी को अधिक मजदूरी मिलती है, वहाँ वह चला जाता है।

(४) भूमि निष्क्रिय है। संपत्ति की उत्पत्ति में भूमि के आधार पर ही श्रम अपना कार्य करता है।

(४) श्रमी सक्रिय होता है। वह भूमि की सहायता से धन उत्पन्न करता है।

(५) भूमि स्थायी होती है; और इसकी मात्रा में परिवर्तन नहीं हो सकता, केवल रूपान्तर होता है। उदाहरण के लिए, पानी जब भाप बन जाता है, तब उसकी मात्रा वही रहती है, केवल रूप बदल जाता है।

(५) श्रम स्थायी नहीं रहता, उसकी मात्रा या मान में बराबर परिवर्तन होता रहता है। हजारों व्यक्ति प्रति दिन मरते हैं तथा हजारों व्यक्तियों का नित्य जन्म होता रहता है।

श्रम के प्रकार और वर्गीकरण

भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से श्रम के कई प्रकार बतलाये गये और वर्गीकरण किये गये हैं। जैसे—

(१) शारीरिक और मानसिक श्रम।

(क) जो श्रम करने में शरीर से काम लिया जाता है, उसे शारीरिक श्रम कहते हैं। उदाहरण के लिए, जमीन खोदने और बोझ ढोने में शारीरिक श्रम का प्रयोग किया जाता है।

(ख) जो श्रम करने में शरीर की अपेक्षा मस्तिष्क या दिमाग की अधिक आवश्यकता होती है, उसे मानसिक श्रम कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक डाक्टर या वकील को शरीर की अपेक्षा मस्तिष्क से अधिक काम लेना पड़ता है।

(२) अकुशल, कुशल तथा अति-कुशल श्रम।

(क) अकुशल श्रम—जिस श्रम में किसी विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती, उसे अकुशल श्रम कहते हैं। जैसे मिट्टी खोदने या बोझ ढोने में किसी विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार के श्रम को अकुशल श्रम कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी विशेष प्रकार की शिक्षा पाये यह काम कर सकता है।

(ख) कुशल श्रम—कुछ काम ऐसे होते हैं, जिनमें विशेष शिक्षित श्रमियों की आवश्यकता होती है और वही शिक्षित लोग ऐसे काम कर सकते हैं। जैसे कपड़े सीने का काम, मोटर चलाने का काम आदि।

(ग) अति-कुशल श्रम—कुछ कार्यों के लिए साधारण से कहीं अधिक शिक्षा तथा प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) की आवश्यकता होती है। जैसे डाक्टरी, इन्जीनियरिंग आदि। इस प्रकार का श्रम अति-कुशल श्रम कहलाता है।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम

उपयोगिता बढ़ाने की दृष्टि से श्रम को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) उत्पादक और (२) अनुत्पादक।

उत्पादक श्रम—वह श्रम, जिससे धन की उत्पत्ति होती है, उत्पादक श्रम कहलाता है। धन की उत्पत्ति का अर्थ उपयोगिता की वृद्धि करना होता है। इसलिए जिस श्रम से उपयोगिता की वृद्धि होती

है, उसे उत्पादक श्रम कहते हैं। जैसे कपड़े बुनना, लकड़ी से मेज-कुरसी बनाना, कपड़ों की सिलाई करना आदि।

अनुत्पादक श्रम—जिस श्रम से उपयोगिता की वृद्धि न हो, उसे अनुत्पादक श्रम कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक कूआँ खोदने के बाद उसमें से पानी न निकले तो यह अनुत्पादक श्रम कहा जायगा, क्योंकि कूएँ की खोदाई से उपयोगिता की वृद्धि नहीं हुई। यदि एक लेखक की पुस्तक प्रकाशित हो जाने पर उसके द्वारा उसे कुछ धन प्राप्त होता है और उपयोगिता में वृद्धि होती है, तो उसका यह श्रम उत्पादक कहा जायगा। पर यदि पुस्तक प्रकाशित ही न हो तो पुस्तक लिखने का श्रम अनुत्पादक कहा जायगा।

उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम के विषय में अर्थ-शास्त्र के विद्वानों में पहले कुछ मत-भेद था। कुछ लोगों के मत से उत्पादक श्रम की सीमा बहुत संकुचित थी। केवल खेती में लगे हुए लोगों के श्रम को वे लोग उत्पादक श्रम मानते थे। परन्तु अब उत्पादक श्रम का अर्थ अधिक व्यापक हो गया है। उत्पादक श्रम के अन्तर्गत अब किसान, उद्योग-धन्धे करनेवाले, व्यापारी तथा सेवा द्वारा उपयोगिता बढ़ानेवाले (जैसे गवैये, घर की मजदूरिनें आदि) सभी लोग सम्मिलित हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—श्रम किसे कहते हैं ? उदाहरण सहित समझाइए।

उत्तर—किसी प्रकार का श्रम, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, जो धन कमाने के लिए किया गया हो, अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से श्रम कहा जायगा। उदाहरण के लिए, एक मोटर ड्राइवर का श्रम, एक स्कूल मास्टर का लड़के पढ़ाना, वकीलों का श्रम ये सब धन कमाने के लिए किये जाते हैं, इसलिए ये सब श्रम कहे जायँगे।

२—श्रम के क्या लक्षण हैं ? इसकी तुलना भूमि से कीजिए।

उत्तर—पुस्तक में दिया गया है।

३—क्या नीचे लिखे श्रमों को हम उत्पादक श्रम कह सकते हैं ?

चोर का श्रम, अनुत्तीर्ण विद्यार्थी का श्रम, जुआरी का श्रम।

उत्तर—उपर्युक्त तीनों प्रकार के श्रमों को हम उत्पादक श्रम नहीं कह सकते। ये सभी श्रम अनुत्पादक हैं, क्योंकि इनसे उपयोगिता की वृद्धि नहीं होती।

चोर का श्रम—चोर यद्यपि परिश्रम करके धन चुरा लाता है और धन चुराने में उसे शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम का उपयोग करना पड़ता है, फिर भी यह कार्य समाज के हित के विरुद्ध है ; और इसी लिए अनुत्पादक है।

अनुत्तीर्ण विद्यार्थी का श्रम—एक विद्यार्थी परिश्रम करके पढ़ता है। परन्तु यदि परीक्षा में उसे सफलता न प्राप्त हो, तो उसका श्रम अनुत्पादक कहा जायगा।

जुआरी का श्रम—जिन कारणों से चोर का श्रम अनुत्पादक है, उन्हीं कारणों से जुआरी का श्रम भी अनुत्पादक है।

८

श्रम की कार्य-क्षमता

श्रम की कार्य-क्षमता से हमारा तात्पर्य श्रमिकों की उस विशेष योग्यता तथा शक्ति से है जिससे वे एक निश्चित समय में अधिक काम अथवा कम समय में अधिक वस्तुओं का निर्माण कर सकते हैं।

यह शक्ति नीचे लिखी बातों पर निर्भर है—

(१) जातीय गुण—श्रमियों की कार्य करने की शक्ति बहुत कुछ उनकी जाति (Race) पर निर्भर है। उदाहरण के लिए, हिन्दुस्तानियों की अपेक्षा अमेरिकन या अँगरेज अधिक कार्य-क्षमता रखते हैं। भारतीय आर्य यहाँ के प्राचीन निवासियों (कोल-भीलों) की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल हैं।

(२) पैतृक गुण—श्रमी पर पैतृक गुणों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि श्रमी के पूर्वज कुशल श्रमी रहे हों तो यह प्रायः मानी हुई बात है कि वह भी कुशल श्रमी होगा। उदाहरण के लिए, क्षत्रिय जाति के लोग अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक शारीरिक शक्ति रखते हैं। ब्राह्मणों की रुचि पूजा-पाठ तथा धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने-पढ़ाने की ओर ही अधिक रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक जाति की कुछ न कुछ विशेषता रहती है। इसलिए जाति का प्रभाव श्रमियों पर होना स्वाभाविक ही है।

(३) जल-वायु—श्रमी पर जल-वायु का प्रभाव भी अधिक पड़ता है। ठंढे जल-वायु में रहनेवाले श्रमी, गरम जल-वायु में रहनेवाले श्रमियों

की अपेक्षा अधिक परिश्रमी और अधिक काम करनेवाले होते हैं। उदाहरण के लिए, योरप के रहनेवाले भारतीयों की अपेक्षा अधिक परिश्रमी होते हैं।

(४) रहन-सहन का दरजा—रहन-सहन के दरजे या स्तर से अभिप्राय यह होता है कि श्रमी किन-किन वस्तुओं का उपभोग करता है। जिस प्रकार की वस्तुओं का उपभोग एक श्रमी करता है, उसी प्रकार की उसकी कार्य-कुशलता भी हो जाती है। यदि श्रमी पौष्टिक पदार्थों का अधिक उपभोग करता है तो उसकी कार्य-कुशलता भी बढ़ती है। उदाहरण के लिए घी, दूध, फल आदि खाने से हम लोगों के स्वास्थ्य में वृद्धि होती है तथा कार्य करने की शक्ति बढ़ती है। यदि एक श्रमी पेट भर भोजन नहीं पाता तथा शीत और वर्षा से बचने के लिए कपड़े नहीं पहनता तो वह अधिक कार्य नहीं कर सकता और उसमें कार्य-क्षमता अधिक नहीं रह जाती।

(५) साधारण शिक्षा—श्रमियों की कार्य-क्षमता या कार्य-कुशलता बहुत कुछ उनकी शिक्षा पर भी आश्रित है। शिक्षा दो प्रकार की होती है—साधारण शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा।

साधारण शिक्षा से अभिप्राय उस शिक्षा से है जो किसी विशेष व्यवसाय के लिए नहीं होती, बल्कि जिससे मनुष्य लिखना-पढ़ना भर सीख लेता है। उदाहरण के लिए, हमारे देश के विद्यालयों में हाई स्कूल तक की शिक्षा साधारण शिक्षा कही जाती है, क्योंकि वह लिखने-पढ़ने भर की शिक्षा होती है। एक शिक्षित श्रमी एक अशिक्षित श्रमी की अपेक्षा अधिक कुशलता से कार्य करता है।

(६) व्यावसायिक शिक्षा—व्यावसायिक शिक्षा किसी एक विशेष व्यवसाय की सब बातें सिखलाने के लिए दी जाती है। उदाहरण के लिए, दरजी या बढ़ई का काम, डाक्टरी, इन्जीनियरिंग आदि व्यावसायिक शिक्षाएँ हैं। इस प्रकार की शिक्षा से केवल वही व्यवसाय

कुशलतापूर्वक किया जा सकता है, जिसके लिए कोई शिक्षा प्राप्त की गई हो। कुशल श्रमी बनने के लिए साधारण शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा होना भी आवश्यक है। जिन देशों में व्यावसायिक शिक्षा उन्नत दशा में है, वहाँ के श्रमी अधिक कार्य-कुशल होते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका, इँगलैंड, जरमनी, जापान आदि देशों में शिक्षा का अधिक प्रचार है, इसलिए वहाँ के श्रमी भी अधिक कार्य-क्षम होते हैं। हमारे देश में व्यावसायिक शिक्षा नहीं के बराबर है। जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, तब से हमारी नई कांग्रेसी सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है और अब व्यावसायिक शिक्षा का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है।

(७) कार्य करने की दशाएँ—कार्य-क्षमता कार्य करने की दशाओं पर भी निर्भर होती है। एक श्रमी केवल कुछ निश्चित घंटों तक कुशलतापूर्वक कार्य कर सकता है। यदि श्रमी को उस समय के बाद और अधिक समय तक कार्य करना पड़ा तो अनुपात के विचार से उतना अधिक कार्य न होगा। इसी कारण सरकार की ओर से श्रमियों के कार्य करने का समय कानून द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए मालिकों का सहयोग भी आवश्यक है। मजदूरों को वर्दी तथा जाड़े के वस्त्र, लाभ का अंश (लाभांश = बोनस) आदि सामयिक सहायताएँ इसी अभिप्राय से दी जाती हैं कि उनकी रहन-सहन का दरजा ऊँचा हो और उनकी कार्य-क्षमता बढ़े।

श्रम की पूर्त्ति—श्रम की पूर्त्ति से हमारा तात्पर्य किसी देश की जन-संख्या से होता है। प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक कारणों से इस संख्या में घटती-बढ़ती होती रहती है। विदेशी लोगों के हमारे देश में आने से इस देश की श्रम-पूर्त्ति बढ़ सकती है; तथा यहाँ के निवासियों के विदेश चले जाने से यहाँ की श्रम-पूर्त्ति में कमी

हो सकती है। परन्तु साधारणतः इन दोनों बातों का प्रभाव बहुत थोड़ा होता है।

पूर्वी देशों में आज-कल जन-संख्या की अत्यधिक वृद्धि होने के कारण संकट सा उपस्थित हो गया है। इन देशों में भुख-मरी से जनता ग्रस्त है। यह ठीक है कि मनुष्य की उदर-पूर्त्ति या परिपोषण के लिए भगवान उसे दो हाथ भी देता है। यदि दस बच्चे पैदा हुए तो उनके बीस हाथ भी होंगे, जिनसे वे अपने खाने-पीने के लिए कुछ उत्पन्न कर सकेंगे। परन्तु भूमि की मात्रा तो नहीं बढ़ाई जा सकती। भूमि तथा श्रम से ही हम कोई वस्तु उत्पन्न कर सकते हैं। यदि श्रम की पूर्त्ति माँग से अधिक हो जाय तो क्या होगा? यहाँ हम अंग्रेज अर्थ-शास्त्री माल्थस का एक सिद्धान्त बतलावेंगे जो उपर्युक्त बातों से विशेष सम्बन्ध रखता है।

माल्थस का जन-संख्यावाला सिद्धान्त

आधुनिक समय में खाद्य पदार्थों की समस्या विशेष जटिल हो गई है। चारों ओर 'अधिक अन्न उपजाओ' के नारे लगाये जा रहे हैं। भूमि पर जन-संख्या का दबाव या भार अधिक हो गया है, पर उसकी तुलना में अन्न की उपज में वृद्धि नहीं हुई है। यही बात माल्थस साहब, जो एक अँग्रेज पादरी थे, अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—किसी देश की जन-संख्या तो ज्यामितिक अनुपात (Geometrical progression) में बढ़ती है; अर्थात् हर बार कुछ निश्चित समय में वह बराबर दूनी होती जाती है। लेकिन खाद्य-पदार्थों में वृद्धि अंक-गणितवाले अनुपात (Arithmetical progression) में होती है, अर्थात् वह एक निश्चित समय में एक-एक के संख्या-क्रम से बढ़ती है। दोनों के अलग-अलग रूप इस प्रकार हैं—

आबादी की बढ़ती—१:२:४:८:१६:३२ (ज्यामितिक अनुपात)

भूमि की उपज—१:२:३:४:५:६ (अंक-गणित का अनुपात)

पर वास्तव में न तो इस ढंग की वृद्धि हुई है और न हो ही सकती है। तो भी यह निश्चित सत्य है कि जन-संख्या जितनी अधिक बढ़ती है, उतनी अधिक मात्रा में अन्न की पैदावार नहीं बढ़ती। अन्न की पैदावार पूरी न होने पर कई दूसरे कारणों से जन-संख्या घटने लगती है। अनेक प्रकार की विपत्तियाँ मनुष्य समाज को आ घेरती हैं। युद्ध होते हैं, दुर्भिक्ष, प्लेग, हैजा, इन्फ्लूएंजा आदि बड़े-बड़े रोग देशों पर आक्रमण करते हैं। साथ ही बढ़ी हुई आबादी का परिणाम समाज पर व्यभिचार, दरिद्रता आदि के रूप में भी होता है।

मालथस ने ऐसे दो उपाय बतलाये हैं जिनके द्वारा जन-संख्या की वृद्धि रोकी जा सकती है—निरोधक उपाय तथा प्राकृतिक उपाय।

(१) निरोधक उपाय—निरोधक उपायों से तात्पर्य ऐसे मानवीय उपायों से है, जिनके द्वारा मनुष्य जन-संख्या में होनेवाली वृद्धि स्वयं रोक सकता है; जैसे ब्रह्मचर्य का पालन, शादी न करना या अधिक उमर में शादी करना। शिक्षा के प्रचार द्वारा भी हम बढ़ती हुई जन-संख्या का नियन्त्रण कर सकते हैं। अँग्रेजी में इन्हें Preventive checks कहते हैं।

(२) प्राकृतिक उपाय—मनुष्य यदि कृत्रिम उपायों से काम नहीं लेता और बढ़ती हुई जन-संख्या की रोक-थाम नहीं करता तो प्रकृति स्वयं कई प्रकार से यह काम करने लगती है। संसार में युद्ध छिड़ जाते हैं और प्लेग, हैजा आदि अनेक प्रकार की महामारियाँ फैलती हैं, जिनसे बढ़ती हुई आबादी समय-समय पर बराबर बहुत घटती रहती है। ये काम प्रकृति के द्वारा होते हैं, इसी लिए इन्हें प्राकृतिक उपाय कहते हैं। अँगरेजी में इन्हें Positive checks कहते हैं।

भारतीय श्रमियों की कार्य-क्षमता

हमारे देश के श्रमियों की कार्य-क्षमता अन्य देशों के श्रमियों की कार्य-क्षमता से बहुत कम है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) रहन-सहन के दरजे का नीचा होना—हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय करीब २५०) वार्षिक है, जब कि अमेरिका, इँगलैंड तथा रूस के प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय १०००) वार्षिक के लग-भग है। इसका अर्थ यह है कि हमारे देश के श्रमियों की रहन-सहन का दरजा बहुत गिरा हुआ है। श्रमियों को पौष्टिक पदार्थों का मिलना तो दूर रहा, यहाँ करोड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जिनको पूरा और सन्तुलित भोजन भी नहीं प्राप्त होता। ऐसे व्यक्तियों से पूरी कार्य-कुशलता की आशा नहीं की जा सकती।

(२) साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा की कमी—हमारे देश में १०० में करीब १२ या १४ व्यक्ति शिक्षित हैं, शेष हस्ताक्षर के स्थान पर अँगूठे का निशान ही लगाते हैं। एक अशिक्षित व्यक्ति शिक्षित की अपेक्षा कम कार्य-कुशल होता है; इसलिए हमारे यहाँ कार्य-क्षमता दूसरे उन्नत देशों की अपेक्षा कम होती है। व्यावसायिक शिक्षा तो नाम मात्र की है। शताब्दियों से गुलाम रहने के कारण स्वावलम्बी होने की भावना ही हम लोगों में से जाती रही है। सब लोग यही समझकर शिक्षा प्राप्त करते हैं कि अध्ययन समाप्त करके हम कहीं नौकरी कर लेंगे। देश में औद्योगिक तथा व्यावसायिक कार्यों का विकास न होने का प्रधान कारण पुराने अँगरेज शासकों की नीति रही है। उन्होंने भारत को एक खेतिहर देश या कच्चे माल पैदा करनेवाला क्षेत्र बना रखा था। इन कारणों से हमारे यहाँ व्यावसायिक शिक्ष की उन्नति न हो सकी। अब कांग्रेस सरकार ने

इस ओर ध्यान दिया है और व्यावसायिक शिक्षा के केन्द्र स्थापित किये हैं जिनसे देश की उन्नति की आशा की जाती है।

(३) जल-वायु—हमारे देश का जल-वायु गरम है। कर्क रेखा हमारे देश के बीच से होकर निकलती है, जिसका अर्थ यह है कि देश का आधा भाग उष्ण कटिबन्ध में पड़ता है, जहाँ की आब-हवा गरम है और निवासी आलसी और सुस्त होते हैं। थोड़ी ही देर काम करने के बाद वे थक जाते हैं। ठंढे देशों के श्रमी चुस्त होते और अधिक परिश्रम कर सकते हैं। इसलिए वे हमारे श्रमियों की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होते हैं।

हमें अपने देश के श्रमियों की कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिए देश की उत्पत्ति बढ़ाना, रहन-सहन का दरजा ऊँचा करना और समुचित साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—श्रम की कार्य-कुशलता या कार्य- क्षमता का क्या अर्थ होता है? श्रमियों की कार्य-कुशलता किन-किन साधनों पर निर्भर है?

उत्तर—श्रम की कार्य-कुशलता से अभिप्राय यह होता है कि लोग थोड़े व्यय तथा समय में अधिक काम कर सकें। उदाहरण के लिए, एक श्रमी यदि चार दिन में एक कुरसी बनाता है और दूसरा श्रमी वही कुरसी दो दिन में बनाता है, तो दूसरा श्रमी पहले की अपेक्षा अधिक कुशल समझा जायगा। श्रमियों की कार्य-कुशलता नीचे लिखी बातों पर निर्भर है—

जातीय गुण, पैतृक गुण, जल-वायु, रहन-सहन का दरजा, साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा, कार्य करने की दशा आदि। इनका वर्णन पुस्तक में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

२—मालथस के जन-संख्यावाले सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—मालथस साहब ने जन-संख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त बनाया था। उसके अनुसार किसी देश की जन-संख्या वहाँ के खाद्य पदार्थों की अपेक्षा कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है। जन-संख्या ज्यामिति के अनुपात से (१,२,४,८,१६ के हिसाब से) तथा खाद्य पदार्थ अंक-गणितवाले अनुपात से (१,२,३,४,५,६ के हिसाब से) बढ़ते हैं।

३—भारतीय श्रमियों के कम कार्य-कुशल होने के क्या कारण हैं?

उत्तर—नीचे लिखे कारणों से भारतीय श्रमी अन्य सभ्य देशों के श्रमियों की अपेक्षा कम कार्य-कुशल होते हैं—

जल-वायु, रहन-सहन के दरजे का नीचा होना, साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा का उचित प्रवन्ध न होना। इन बातों का विस्तार-पूर्वक वर्णन ऊपर यथा-स्थान किया गया है।

४—जन-संख्या की वृद्धि रोकने के क्या उपाय या साधन हैं?

उत्तर—मालथस ने बढ़ती हुई जन-संख्या रोकने के दो उपाय बताये हैं—

(क) प्राकृतिक उपाय (Positive checks)—यदि मनुष्य बढ़ती हुई जन-संख्या की रोक-थाम नहीं करता तो प्रकृति की ओर से युद्ध, महामारी, अकाल आदि होना अनिवार्य है। इस कारण इन संकटों से बचने के लिए मनुष्य को स्वयं जन-संख्या की वृद्धि का नियन्त्रण करना चाहिए। (ख) दूसरे उपाय को निरोधक उपाय (Preventive checks) कहते हैं। इसके अनुसार लोगों को छोटी उमर में विवाह नहीं करना चाहिए, ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और इस विषय की शिक्षा का प्रसार करना चाहिए। इन सब उपायों या साधनों से जन-संख्या की वृद्धि रुक सकती है।

१

पूँजी

अब तक हमने उत्पत्ति के दो साधनों (भूमि और श्रम) का विवेचन किया है। यही दोनों साधन मुख्य साधन कहे जाते हैं, क्योंकि इनके बिना उत्पत्ति होना सम्भव नहीं। उत्पत्ति के अन्य साधन इन्हीं साधनों के आश्रित रहते हैं, इसलिए अन्य साधनों को गौण साधन कहते हैं। आधुनिक युग में पूँजी के बिना उत्पत्ति करना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य जब जंगलों में रहा करते थे, उस समय के सम्बन्ध में हम बिना पूँजी के उत्पत्ति की कल्पना कर सकते हैं। मनुष्यों को जब भूख लगती थी, तब वे पेड़ों से फल-फूल तोड़कर पेट भर लेते थे—अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते थे। परन्तु आधुनिक युग में पूँजी का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इस पूँजी की उत्पत्ति भूमि और श्रम के सहयोग से होती है। पूँजी उत्पत्ति का कृत्रिम साधन है।

पूँजी की परिभाषा

धन के जिस भाग से और अधिक धन उत्पन्न किया जाय, वही पूँजी कहलाता है। सम्पूर्ण पूँजी तो धन होती है, लेकिन सम्पूर्ण धन पूँजी नहीं होता।

पूँजी की उत्पत्ति श्रम और भूमि के द्वारा होती है। उदाहरण के लिए, एक लकड़हारा अपने श्रम से जितनी लकड़ी तोड़कर जंगल

से ले आता है, वह सब उसका धन है। पर यह धन केवल श्रम से प्राप्त हुआ है, पूँजी से नहीं। अब यही धन या लकड़ियाँ बेचकर थोड़े पैसों से वह कुल्हाड़ी और रस्सी खरीद लेता है। अब यही चीजें उसकी पूँजी कही जायँगी, क्योंकि इनके द्वारा वह पहले से अधिक लकड़ियाँ काट और बाँधकर ला सकता है।

पूँजी के लक्षण

श्रम और भूमि के सहयोग से धन की उत्पत्ति होती है और धन का एक भाग पूँजी बनता है। इसलिए पूँजी की उत्पत्ति श्रम से होती है; अर्थात्—

पूँजी मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाती है।

पूँजी श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशील है।

पूँजी श्रम संचित करने का साधन है। आज जितनी पूँजी भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लगी है, वह सब संचित श्रम का ही फल है।

पूँजी का महत्त्व

पूँजी का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। उससे श्रम की बचत होती है। उदाहरण के लिए, जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं (जैसे रेल, तार, जहाज, मशीन आदि) उन सबके द्वारा श्रम की बचत हो रही है। मशीनों द्वारा हम लोग थोड़े समय में और थोड़े श्रम से अधिक कार्य करते हैं। बड़े पैमाने की उत्पत्ति भी इसी का फल है।

उत्पत्ति के क्षेत्र में पूँजी विशेष महत्त्व रखती है। आधुनिक काल में पूँजी उत्पत्ति का अनिवार्य अंग है; क्योंकि हर प्रकार की उत्पत्ति में हमें पूँजी की आवश्यकता होती है। आज-कल बड़े पैमाने पर उत्पत्तियाँ की जाती हैं। बड़े पैमानेवाली उत्पत्तियों में

मशीनों का अधिक उपयोग होता है। मशीनें पूँजी ही का रूप हैं। मशीनों का प्रयोग उत्पत्ति में इतना अधिक हो गया है कि आधुनिक युग मशीनों का युग कहा जाता है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अतिरिक्त छोटी से छोटी उत्पत्ति में भी उसकी आवश्यकता होती है। बिना उसके हम आधुनिक काल में उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते।

पहले जब छोटे पैमाने की उत्पत्ति होती थी, तब केवल थोड़े से औजारों से ही उत्पत्ति का कार्य होता था। ज्यों-ज्यों समाज में ज्ञान की वृद्धि होती गई और मनुष्य सभ्य होता गया तथा वैज्ञानिक आविष्कारों की उन्नति होती गई, त्यों-त्यों उत्पत्ति की क्रियाओं में पूँजी का महत्त्व भी बढ़ता गया। आज-कल बड़ी-बड़ी इमारतों, मशीनों और इंजनों के द्वारा उत्पत्ति होती है। इन सबके लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। ज्यों-ज्यों विज्ञान की वृद्धि होती जायगी, त्यों त्यों इसका महत्त्व भी बढ़ता जायगा।

पूँजी और श्रम की तुलना

धन का वह भाग, जो और अधिक धन पैदा करने के लिए काम में लाया जाता है, पूँजी कहलाता है। श्रम से इसकी तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

पूँजी के लक्षण	श्रम के लक्षण
(१) श्रम और भूमि के सहयोग से धन की उत्पत्ति होती है। धन का एक भाग पूँजी है, इसलिए पूँजी की उत्पत्ति श्रम से होती हैं।	(१) श्रमी को श्रम करने के योग्य बनाने में धन व्यय होता है। श्रम के द्वारा पूँजी की उत्पत्ति होती है।

(२) पूँजी श्रम की अपेक्षा अधिक स्थिर रहती है। इसमें टिकाऊपन अधिक होता है।

(२) श्रम पूँजी की अपेक्षा शीघ्र नाशवान होता है।

(३) पूँजी श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशील है, क्योंकि वह सहज में दूर के स्थानों पर भी लगाई जा सकती है।

(३) श्रम पूँजी की अपेक्षा बहुत कम गति-शील होता है; क्योंकि श्रमी को स्वयं अन्य स्थानों पर जाना होता है। इसमें कई बातों का विचार करना पड़ता है।

(४) पूँजी हमारे लिए श्रम के संचय का साधन है। इस समय जितनी पूँजी भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लगी है, वह सब संचित श्रम का ही फल है।

(४) श्रम का संचय नहीं किया जा सकता।

(५) पूँजी का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। पूँजी से श्रम की बचत होती है। उदाहरण के लिए, जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं (जैसे, रेल, तार, जहाज,मशीन आदि) सबके द्वारा श्रम की बचत हो रही है। मशीनों द्वारा हम लोग थोड़े समय में श्रम की तुलना में अधिक कार्य करते हैं। बड़े पैमाने की उत्पत्ति भी इसी का फल है।

(५) यद्यपि पूँजी का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है, फिर भी उत्पत्ति के लिए श्रम की आवश्यकता होती ही है। विना श्रम का सहयोग प्राप्त हुए उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

पूँजी के प्रकार

साधारणतः पूँजी के दो भाग किये जाते हैं—चल पूँजी और अचल पूँजी।

चल पूँजी—चल पूँजी उसे कहते हैं, जिसका उपभोग केवल एक बार में समाप्त हो जाता है; और वह दूसरी बार प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। उदाहरण के लिए, साबुन, तेल तथा कच्चे माल हैं। इन सब वस्तुओं का एक ही बार उपयोग होता है।

अचल पूँजी—जिन वस्तुओं का उपभोग बार-बार होता रहता है, उन्हें अचल पूँजी कहते हैं। अचल पूँजी की उपयोगिता एक बार के उपभोग से नष्ट नहीं होती। जैसे—किसी कारखाने की मशीन, इमारत आदि। उत्पत्ति के काम के लिए इन सब का प्रयोग बराबर बहुत दिनों तक होता रहता है।

एक दूसरी दृष्टि से पूँजी के और दो भेद होते हैं—साधारण पूँजी और विशेष पूँजी।

साधारण पूँजी—जो पूँजी केवल द्रव्य के रूप में रहती है, वह सामान्य या साधारण पूँजी कही जाती है। उदाहरण के लिए, जो रुपया हम बंक में जमा करते हैं, वह साधारण पूँजी ही है। ऐसी पूँजी हम हर प्रकार की उत्पत्ति में लगा सकते हैं।

विशेष पूँजी—जो पूँजी किसी निश्चित कार्य में या वस्तु विशेष के निर्माण के लिए लगाई जाती है और जिसका उपयोग दूसरे प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति में नहीं किया जा सकता, उसे विशेष या निर्धारित पूँजी कहते हैं। जैसे, आटा पीसने की मशीन या रेल की पटरियाँ। आटा पीसने की मशीन से अनाज ही पीसा जा सकता है। यदि हम इस मशीन से दूसरे प्रकार की कोई उत्पत्ति करना चाहें तो नहीं कर सकते। इसी तरह रेल की पटरियों पर रेल-गाड़ी

ही चल सकती है। उस पर इक्के या मोटरें नहीं चल सकतीं। इसी कारण इसको विशेष या निर्धारित पूँजी कहते हैं।

पूँजी की कार्य-क्षमता

किसी साधन की कार्य-क्षमता का अर्थ यह होता है कि उस साधन का अच्छे से अच्छे ढंग से उपयोग किया जाय जिससे अधिकतम उत्पत्ति हो सके। पूँजी की कार्य-क्षमता का अर्थ यह है कि जो पूँजी जिस प्रकार की उत्पत्ति के लिए बनाई गई है, उसका उसी उत्पत्ति के लिए प्रयोग किया जाय। उदाहरण के लिए, कपड़े बुननेवाली एक मशीन बनाई गई है। अब यदि उसे कपड़ा बुनने के उपयोग में न लाकर शक्कर बनाने के काम में लाया जाय तो उसका उचित प्रयोग नहीं हुआ और उसकी कार्य-क्षमता नहीं रह गई। इस प्रकार उत्पत्ति में जितनी पूँजी लगाई जाती है, उस सब का उचित रूप से प्रयोग होना आवश्यक है। एक श्रमी है जिसने व्यावसायिक शिक्षा नहीं प्राप्त की है। यदि उसको एक मशीन चलाने को दे दी जाय तो उस मशीन अथवा पूँजी की कार्य-क्षमता न रहेगी। पूँजी की कार्य-क्षमता का फल तो तभी होगा, जब ठीक काम के लिए ठीक ढंग से और ठीक आदमी के द्वारा उसका उपयोग होगा।

मशीनों से लाभ

मशीनों का प्रयोग—हम पहले कह चुके हैं कि आधुनिक युग 'मशीनों का युग' कहा जाता है; क्योंकि हमारे जीवन में मशीनों का प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति मशीनों द्वारा ही सम्भव है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही इस बात का प्रयत्न करता चला आ रहा है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त की जाय।

कुछ अंशों में उसे इस काम में सफलता भी प्राप्त हुई है। यहाँ तक कि अब एवरेस्ट पर्वत की चोटी पर पहुँचकर भी उसने अपनी विजय-पताका फहराई है। यह सब विज्ञान की देन है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण ही इतनी अधिक मशीनों का निर्माण हो सका है कि हम जिस ओर देखते हैं, उसी ओर हमें मशीनों का चमत्कार दिखाई देता है।

मशीनों से लाभ—(१) मशीनों द्वारा समय की बचत होती है। जिन कार्यों के लिए हफ्तों समय की आवश्यकता होती थी, वे अब मशीनों के द्वारा कुछ घण्टों में ही पूरे हो जाते हैं। बहुत-से ऐसे कार्य, जो पहले असम्भव प्रतीत होते थे, अब मशीनों के द्वारा बहुत सहज में हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, रेल, जहाज आदि हैं। इनके द्वारा यात्रा के सुभीतों के सिवा उत्पत्ति में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

(२) मशीनों द्वारा एक पूरा काम कई भागों में बाँट देना अधिक सम्भव हो गया है, जिसे श्रम-विभाजन कहते हैं। प्रत्येक कार्य के सभी छोटे-बड़े अंगों के लिए अलग अलग मशीनों का आविष्कार हुआ है। इस प्रकार श्रम-विभाजन से जो लाभ होते या हो सकते हैं, वे सब मशीनों द्वारा सुलभ हो गये हैं।

(३) मशीनों के द्वारा वस्तुओं का निर्माण सस्ते दामों पर होता है। हाथों की अपेक्षा मशीनों द्वारा वस्तुएँ कम लागत में तैयार होती हैं और वे बनती भी अच्छी हैं। कम लागत पर बनने से वस्तुएँ सस्ती बिकती हैं और उनकी माँग बढ़ती है। इस प्रकार निर्माणकर्त्ता और उपभोक्ता दोनों को लाभ पहुँचता है।

(४) मशीनों द्वारा वस्तुएँ एक ही नमूने की तथा एक समान या एक-रूप (Uniform quality) की बनती हैं। हाथ की बनाई हुई वस्तुओं में थोड़ा-बहुत अन्तर तो हो ही जाता है। परन्तु मशीनों

से बनी हुई वस्तुओं में यह बात नहीं होती। वे सब देखने में बिलकुल एक-सी रहती हैं।

(५) अधिक पैमाने पर उत्पत्ति मशीनों द्वारा ही हो सकती है। हाथ से बड़े पैमाने पर वस्तुएँ नहीं बनाई जा सकतीं। फिर हाथ से चीजें बनाने में समय भी अधिक लगता है। परन्तु मशीनों द्वारा वस्तुएँ अधिक संख्या में, कम समय में और थोड़ी लागत में बनाई जाती हैं। इसी कारण अब मशीनों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

मशीनों से हानियाँ

मशीनों से लाभ ही लाभ नहीं होते, बल्कि लाभ के साथ-साथ कुछ हानियाँ भी होती हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) बेकारी (Unemployment) बढ़ना—मशीनों के प्रचलन से बहुत-से श्रमी बेकार हो जाते हैं; क्योंकि जो काम हाथ से दस-बीस मजदूर करते हैं, वह केवल एक मशीन कर सकती है। जो श्रमी बेकार हो जाते हैं, उन्हें कहीं काम नहीं मिलता।

(२) कुटीर उद्योग-धन्धों का लोप—हम पहले ही बतला चुके हैं कि मशीनों के कारण घरेलू उद्योग-धन्धों को बहुत धक्का पहुँचता है। हाथ की बनी वस्तुएँ मशीनों द्वारा बनाई हुई वस्तुओं की अपेक्षा महँगी पड़ती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हाथ की बनी हुई वस्तुओं की खपत, दाम अधिक होने के कारण, बाजार में अधिक नहीं हो पातीं। इस प्रकार धीरे-धीरे कुटीर उद्योग-धन्धों का लोप होता जा रहा है। हमारे देश में औद्योगिक क्रान्ति के पहले प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी था। गाँव की आवश्यकता की वस्तुएँ गाँव के कारीगर ही तैयार कर लेते थे। परन्तु आज-कल यह बात नहीं रह गई।

(३) मशीनों द्वारा वस्तुएँ बनाने में कभी-कभी वस्तुएँ आवश्यक-

ता से अधिक मात्रा में बन जाती हैं। इसके फल-स्वरूप निर्माण-कर्त्ताओं में अत्यन्त तीव्र स्पर्धा हो जाती है और बाजार में मन्दी आ जाती है। इससे श्रमियों की बेकारी बढ़ जाती है।

(४) श्रम-विभाजन के सभी दोष मशीनों के कारण उत्पन्न होते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—पूँजी किसे कहते हैं? उत्पत्ति में पूँजी का क्या महत्त्व है?

उत्तर—धन के उस भाग को, जिससे और धन पैदा किया जाय, पूँजी कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक किसान यदि १०० मन अनाज एक साल में उत्पन्न करता है और उसमें से १० मन बचाकर अगले साल बोने के लिए बीज के रूप में रख लेता है और ९० मन का उपभोग करता है, तो यही बचाकर रखा हुआ १० मन अनाज उसकी पूँजी कहा जायगा।

उत्पत्ति के क्षेत्र में पूँजी का महत्त्व बहुत अधिक है। बिना पूँजी के उत्पत्ति असम्भव है। मशीनें, कारखानों की इमारतें, कच्चे माल, किसानों के हल, बैल, बीज आदि और कृषि के यन्त्र सब पूँजी के अन्तर्गत ही हैं। उत्पत्ति के लिए ये सब वस्तुएँ बहुत आवश्यक और अनिवार्य हैं। पूँजी के द्वारा धन की उत्पत्ति में सहायता मिलती है और थोड़े समय तथा कम लागत में अधिक उत्पत्ति होती है। मशीनों से असम्भव कार्य भी सम्भव हो रहे हैं तथा उत्पत्ति में अधिक वृद्धि हो रही है। आवागमन के साधनों में उन्नति तथा वृद्धि होने के कारण सम्पूर्ण संसार एक सूत्र में बँध गया है और उत्पत्ति बड़े पैमाने पर की जा रही है, जिसमें पूँजी का सहयोग अनिवार्य है। पूँजी का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है।

२—क्या हम नीचे लिखी वस्तुओं को पूँजी कह सकते हैं ? कारण सहित अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

(क) डाक्टर की कार्य-कुशलता।

(ख) दूकान या कारखाने की प्रसिद्धि।

(ग) पहनने के कपड़े।

(घ) किसान के हल-बैल।

उत्तर—पूँजी धन का वह भाग है जो अधिक धन पैदा करने के लिए लगाया जाता है। पूँजी में भी धन के लक्षण होते हैं। अर्थात् इसमें भी उपयोगिता, परिवर्तन-शीलता, दुर्लभता आदि विशेषताएँ रहती हैं। इसी दृष्टि-कोण से विचार करने पर सिद्ध होता है—

(क) डाक्टर की कार्य-कुशलता पूँजी नहीं है, क्योंकि उसमें परिवर्त्तन-शीलता नहीं है। डाक्टर अपनी कार्य-कुशलता किसी के हाथ बेच नहीं सकता, भले ही वह उससे अधिक धन कमा ले।

(ख) दूकान या कारखाने की प्रसिद्धि पूँजी कही जाती है; क्योंकि इससे अधिक धन पैदा किया जाता है। एक कारखाने की प्रसिद्धि से व्यापार में अधिक लाभ होता है। धन की जितनी विशेषताएँ होती हैं, वे सब इसमें पाई जाती हैं। ऐसा नाम या प्रसिद्धि बेची भी जा सकती है, अतः यह पूँजी है।

(ग) पहनने के कपड़े पूँजी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनके द्वारा परोक्ष रूप से ही अधिक धन पैदा किया जाता है, प्रत्यक्ष रूप से नहीं; इसलिए ये पूँजी नहीं हैं।

(घ) हल-बैलों को भी पूँजी कहा जाता है, क्योंकि इनके द्वारा किसान अधिक धन पैदा करता है। इनमें भी धन के सब गुण पाये जाते हैं; इसलिए ये पूँजी हैं।

३—धन और पूँजी में क्या अन्तर है ?

उत्तर—समस्त पूँजी को हम धन कह सकते हैं, परन्तु समस्त

धन को पूँजी नहीं कह सकते; क्योंकि वही धन पूँजी कहा जा सकता है, जिससे और अधिक धन की उत्पत्ति की जाती हो। जिस धन से और अधिक धन नहीं उत्पन्न किया जाता, वह पूँजी नहीं, केवल धन कहा जायगा। उदाहरण के लिए, जमीन के अन्दर गड़े हुए रुपए और गहने धन तो अवश्य हैं, परन्तु पूँजी नहीं कहे जा सकते।

४—चल तथा अचल पूँजी में क्या अन्तर है?

उत्तर—चल पूँजी—जिस पूँजी का उपभोग केवल एक बार होता है, उसे चल पूँजी कहते हैं। जैसे तेल, साबुन, कच्चे माल आदि। इन सबका उपभोग केवल एक बार होता है। उसके बाद इनका रूपान्तर हो जाता है और ये चीजें फिर से काम में आने योग्य नहीं रह जातीं।

अचल पूँजी—जिस पूँजी का उपभोग एक बार नहीं, बल्कि बार-बार होता है, उसे अचल पूँजी कहते हैं। जैसे मशीन तथा कारखानों की इमारतें। मशीनों तथा इमारतों का प्रयोग एक ही बार नहीं, वल्कि बराबर बहुत दिनों तक होता रहता है।

५—पूँजी के क्या लक्षण हैं?

उत्तर—पूँजी के लक्षण ये हैं—

पूँजी एक कृत्रिम साधन है। भूमि और श्रम के सहयोग से इसकी उत्पत्ति होती है। यह नाशवान भी है और घटाई-बढ़ाई भी जा सकती है। यह श्रम की अपेक्षा अधिक गति-शील है। उत्पत्ति के लिए इसका महत्त्व श्रम की अपेक्षा अधिक है।

६—मशीनों से क्या लाभ होते हैं?

उत्तर—ये लाभ पुस्तक में यथा-स्थान बतलाये जा चुके हैं।

संगठन या प्रबन्ध

अब तक हमने उत्पत्ति के तीन साधनों (भूमि, श्रम तथा पूँजी) का विचार किया है। संगठन या प्रबन्ध उत्पत्ति का चौथा साधन है। संगठन की आवश्यकता उत्पत्ति के प्रत्येक क्षेत्र में होती है। उत्पत्ति चाहे छोटे पैमाने पर हो चाहे बड़े पैमाने पर, सब में संगठन की आवश्यकता होती है।

संगठन का अर्थ

संगठन का अर्थ व्यवस्था करना होता है। उत्पत्ति के अन्य साधनों (भूमि, श्रम और पूँजी) का प्रवन्धन संगठन के द्वारा इस प्रकार से होता है कि इन साधनों का उचित प्रयोग हो सके और थोड़ी लागत से अधिकतम उत्पत्ति हो सके। उदाहरण के लिए, एक खेतिहर एक खेत से अनाज उत्पन्न करता है। अनाज पैदा करने में उसे बीज, हल, बैल और खेती-बारी के दूसरे सामान इकट्ठे करने पड़ते हैं। उसे यह सोचना पड़ता है कि खेत में कितना बीज बोना चाहिए और कितनी सिंचाई करनी चाहिए। इन सब का संगठन या व्यवस्था किसान इसी दृष्टि से करता है कि लागत जहाँ तक हो सके, कम लगे और उपज अधिक से अधिक हो। संगठन करनेवाले का यही कार्य है। हर व्यवसाय की सफलता अथवा विफलता संगठन करनेवाले पर ही निर्भर है।

आज-कल उत्पत्ति की समस्या पहले से बहुत जटिल हो गई है। मनुष्य केवल अपने लिए वस्तुओं का निर्माण नहीं करता; बल्कि

वह दूसरों की माँग का ध्यान रखकर वस्तुओं का निर्माण करता है। उत्पत्ति के साधनों की पूर्त्ति केवल एक मनुष्य द्वारा नहीं होती, बल्कि भिन्न-भिन्न और अनेक मनुष्यों से होती है। व्यवस्थापक या प्रबन्धक का यह काम होता है कि सब साधनों का इस प्रकार मेल बैठावे या सामंजस्य करे कि अधिक से अधिक उत्पत्ति हो। एक मिल के लिए कच्चे माल की पूर्त्ति कोई दूसरा व्यक्ति करता है। मजदूर केवल मजदूरी पर रखे जाते हैं। पूँजी बंक से उधार ली जाती है या हिस्सेदार खड़े करके उनसे इकट्ठी की जाती है। व्यवस्थापक का काम यह होता है कि सब साधनों का इस ढंग से और इस अनुपात में प्रयोग करे कि उत्पत्ति की मात्रा बढ़े और निर्माण की हुई वस्तु की लागत कम पड़े, जिससे बाजार में वह चीज सस्ती बिके और उसकी माँग बढ़े। इन्हीं सब कारणों से प्रबन्धक या व्यवस्थापक का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

संगठन करनेवाले की योग्यता

संगठन करनेवाला प्रवन्धक अनुभवी और कार्य-कुशल होना चाहिए। साथ ही उसमें निम्न-लिखित विशेषताएँ होनी चाहिएँ।

(क) साधारण शिक्षा—प्रवन्धक सदा शिक्षित व्यक्ति होना चाहिए। उसकी जानकारी अधिक होनी चाहिए। संसार की आर्थिक घटनाओं से उसे परिचित होना चाहिए।

(ख) व्यावसायिक शिक्षा—साधारण शिक्षा के अतिरिक्त व्यवस्थापक को उस व्यवसाय की भी विशेष शिक्षा होना आवश्यक है, जिसका वह व्यवस्थापक हो।

(ग) नेतृत्व की योग्यता—व्यवस्थापक या संगठनकर्त्ता की योग्यता बहुत-कुछ जन्म-जात या पैदाइशी होती है। परन्तु व्यावसायिक शिक्षा और अनुभव से भी कुछ लोग यह योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

आधुनिक समय में आये दिन पूँजीपतियों तथा श्रमियों में संघर्ष होते रहते हैं। छोटे-मोटे झगड़ों का निपटारा या समझौता प्रायः संगठन-कर्त्ता स्वयं अपनी योग्यता से करा लेता है। इसके सिवा श्रमियों की कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए उचित रूप से श्रम-विभाजन करना, योग्यता के अनुसार लोगों में काम बाँटना आदि कार्य भी संगठन-कर्त्ता को ही करने पड़ते हैं, जिनके लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।

(घ) दूर-दर्शिता—संगठनकर्त्ता का दूरदर्शी होना भी आवश्यक होता है। आधुनिक युग में उत्पत्ति बड़े पैमाने पर की जाती है। संगठनकर्त्ता अपनी दूर-दर्शिता से इस बात का अनुमान कर लेता है कि जिस वस्तु का निर्माण हम कर रहे हैं, उसकी माँग बाजार में किस मूल्य पर होगी। वस्तुओं के निर्माण और बिक्री के समय में बहुत अन्तर रहता है। चीजें बनती आज हैं, और बिकती साल-छः महीने बाद हैं। इस बीच में चीजों के मूल्य में उतार-चढ़ाव होता रहता है। दूरदर्शी संगठनकर्त्ता इस बात का ध्यान रखकर ही वस्तुओं का निर्माण करता है।

(ङ) श्रम-संगठन की योग्यता—श्रमियों से काम लेना भी विशेष योग्यता की अपेक्षा रखता है। श्रमियों को उनकी योग्यता के अनुसार काम देना चाहिए, जिससे ठीक ढंग से और अच्छे से अच्छा श्रम-विभाजन हो सके तथा उत्पत्ति में वृद्धि हो। साथ ही यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि श्रमी प्रसन्न और सन्तुष्ट रहें।

श्रम-विभाजन

श्रम-विभाजन का अर्थ—श्रम-विभाजन का अर्थ एक काम को कई भागों में बाँटना होता है। एक कार्य के जो कई टुकड़े या विभाग किये जाते हैं, उनमें से हर एक को हम उप-कार्य कह सकते हैं। ये

सब कार्य अलग-अलग मजदूरों से पूरे कराये जाते हैं। मान लीजिए कि कपड़े बनाने की एक मिल है। कपड़े बनाने में कई प्रकार के श्रमियों की आवश्यकता होती है, इसलिए कपड़े बुनने का काम कई उप-कार्यों में बाँट दिया जाता है। जैसे रूई साफ करना, उसे धुनना, उसके तागे या सूत बनाना, कपड़ा बुनना, उस पर माँड़ी लगाना, उसकी तह लगाना आदि उसके उप-कार्य हैं। इनमें से प्रत्येक उप-कार्य एक कुशल श्रमी के जिम्मे कर दिया जाता है।

श्रम-विभाजन का मूल—बहुत प्राचीन-काल में, जब मनुष्य शिकारी अवस्था में रहता था, तभी से श्रम-विभाजन का आरम्भ हुआ था। कुछ लोग शिकार करने में अधिक कुशल थे, कुछ लोग शिकार के लिए औजार (जैसे तीर, धनुष आदि) बनाने में निपुण थे। जब लोग खेती-बारी करने लगे, तब कोई हल बनाने लगा, कोई कुदाल और फावड़े तैयार करने लगा और कोई खेत जोतने लगा। इस प्रकार योग्यतानुसार आपस में कार्यों का बँटवारा होना प्रारम्भ हो गया।

हमारे देश में जाति-प्रथा का विकास भी इसी के अनुसार हुआ था। प्रत्येक जाति के लिए अलग-अलग व्यवसाय या कार्य निर्धारित हो गये थे। कोई पढ़ता-पढ़ाता था, कोई रोजगार करता था। प्रत्येक कुटुम्ब में भी श्रम-विभाजन की व्यवस्था थी। औरतें घर का काम देखती थीं, पुरुष खेतों या बाजारों का काम करते थे। इसी प्रकार योग्यतानुसार अलग-अलग कामों का बँटवारा हो गया।

आधुनिक-काल में तो इस श्रम-विभाजन का सब जगह और भी अधिक व्यापक रूप दिखाई देता है। यह युग 'मशीनों का युग' कहा जाता है। मशीनों के द्वारा काम करने में श्रम-विभाजन का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया है।

श्रम-विभाजन से लाभ

(१) कार्य-कुशलता की वृद्धि और समय की बचत—कोई बड़ा और पूरा काम सीखने की अपेक्षा उसका केवल एक अंग या भाग सीखने में कम समय लगता है। साथ ही कोई काम बार-बार करते रहने से उसमें कुशलता भी शीघ्र आ जाती है और वह काम जल्दी भी होने लगता है। इस प्रकार योग्यता की वृद्धि और समय की बचत होती है।

(२) यन्त्रों का उपयोग और आविष्कार—जब कोई कार्य कई उप-कार्यों में बाँट दिया जाता है, तब प्रत्येक उप-कार्य की क्रिया बहुत सरल हो जाती है; और उस दशा में यह सम्भव हो जाता है कि उसके लिए मशीनों का प्रयोग किया जा सके। नई-नई मशीनों का आविष्कार इसी लिए हुआ है कि उप-कार्य करनेवाले अपने सुभीते का रास्ता ढूँढ़ते और निकालते रहते हैं।

(३) श्रमी को योग्यता के अनुसार कार्य मिलता है—श्रम-विभाजन के फल-स्वरूप प्रत्येक श्रमी को उसकी बुद्धि, शक्ति और योग्यता के अनुसार काम मिलता है। एक ही काम बराबर करते रहने से श्रमियों की कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है, जिसके कारण उत्पत्ति बढ़ जाती है।

(४) शारीरिक परिश्रम में कमी—मशीनों के प्रयोग से शारीरिक श्रम में कमी होती है। श्रमियों को शारीरिक श्रम कम करना पड़ता है। अधिकतर काम मशीनें करती हैं और श्रमी उनकी देख-भाल भर करता है।

(५) प्रशिक्षण या ट्रेनिंग के समय में कमी—श्रम-विभाजन के पूर्व एक श्रमी को किसी कार्य के सभी अंगों या भागों की कार्य-प्रणाली सीखनी पड़ती थी, जिसमें बहुत समय लगता था। अब हर कार्य कई उप-

कार्यों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक श्रमी को केवल एक उप-कार्य सीखना और करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, कपड़ा बुनने का काम लीजिए। गाँव का जुलाहा स्वयं उसके सब कार्य करता है। परन्तु मिलों में श्रम-विभाजन के कारण यह कार्य कई उप-कार्यों में बँट जाता है। जैसे—धोतियों के किनारे या छींटों के बेल-बूटों के नक्शे या डिजाइन बनाना, तानी तनना, कपड़ा बुनना, माँड़ी लगाना या पालिश करना आदि। हर श्रमी को इनमें से केवल एक उप-कार्य सीखना और करना पड़ता है। यदि एक ही आदमी सब काम करना चाहे, तो उसे सब काम सीखने पड़ेंगे। सब काम सीखने की योग्यता थोड़े ही लोगों में होती है। इसलिए बहुत-से लोग अपनी योग्यता के अनुसार कोई एक काम थोड़े समय में सीखकर अपना निर्वाह करने लगते हैं।

(६) मितव्ययिता—श्रम-विभाजन के फल-स्वरूप वस्तुओं पर लागत कम पड़ती है जिससे उनकी माँग बढ़ जाती है।

(७) समय की बचत—श्रम-विभाजन के फल-स्वरूप समय की बचत होती है। यदि श्रम-विभाजन न हो तो एक ही मनुष्य को सब उप-क्रियाएँ करनी पड़ेंगी। इसमें समय अधिक लगेगा, क्योंकि एक उपक्रिया के समाप्त हो चुकने पर ही दूसरी उप-क्रिया प्रारम्भ हो सकेगी। परन्तु श्रम-विभाजन द्वारा इसलिए समय की बहुत बचत होती है कि हर कार्य की अनेक उप-क्रियाएँ एक ही समय में और साथ साथ चलती रहती हैं।

(८) भेद-भाव का नाश—श्रम-विभाजन की इस व्यवस्था के कारण व्यवसायों के छोटे-बड़े या उच्च-नीच होने की भावना श्रमिकों के हृदय से जाती रहती है।

(९) सहयोग तथा सभ्यता की वृद्धि—एक ही कार्य जब बहुत से श्रमी मिलकर पूरा करते हैं, तब उनमें सहयोग तथा भाई-चारे की

भावना स्वभावतः आने लगती है। इस प्रकार उन लोगों में हेल-मेल और सामाजिक भावना बढ़ती है, जो सभ्यता के विकास और समाज की उन्नति में सहायक होती है।

श्रम-विभाजन से हानियाँ

श्रम-विभाजन से लाभ के साथ-साथ कुछ हानियाँ भी होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) नीरसता—बराबर एक ही उपक्रिया करते रहने से उसमें नीरसता और अरुचि उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य स्वभावतः परिवर्तन चाहता है, इसलिए वह एक ही कार्य से घबराने और ऊबने लगता है।

(२) व्यक्तित्व के विकास में रुकावट—एक ही उप-क्रिया बार-बार करते रहने से श्रमियों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास नहीं होने पाता। जो उप-क्रिया श्रमी करता रहता है, उसके अतिरिक्त वह और कोई उप-क्रिया या कार्य नहीं सीख पाता।

(३) बेकारी—एक श्रमी केवल एक उपक्रिया करता है। यदि किसी कारण से उसकी नौकरी छूट जाती है तो वह कोई दूसरा काम नहीं कर सकता, जिससे वह बेकार हो जाता है। इस प्रकार इससे बेकारी बढ़ती है।

(४) स्त्रियों तथा बच्चों के लिए अवसर—श्रम-विभाजन के द्वारा स्त्रियों तथा बच्चों को भी कुछ उप-क्रियाएँ करने के लिए काम तो अवश्य मिल जाता है, परन्तु उनके स्वास्थ्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है और भावी सन्तान दुर्बल होती है।

(५) स्वास्थ्य-सम्बन्धी हानियाँ—श्रम-विभाजन और बड़े-बड़े कल-कारखानों के कारण श्रमियों को एक ही स्थान पर अधिक संख्या

में एकत्र होकर रहना पड़ता है। बड़े-बड़े नगरों (जैसे—कलकत्ते, बम्बई, कानपुर आदि) में यह बात अधिक देखी जाती है। इससे वहाँ का जल-वायु खराब हो जाता है और स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। श्रम-विभाजन के कारण श्रमियों को बराबर एक ही उपक्रिया करनी पड़ती है, जिसके फल-स्वरूप एक श्रमी को दिन भर एक ही काम करना पड़ता है। किसी को हाथों से, किसी को आँखों से, किसी को पैरों से काम करना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि किसी विशेष अंग पर अधिक दबाव पड़ता है जिससे वह अंग रोग-ग्रस्त हो जाता है।

श्रम-विभाजन के लाभों और हानियों की तुलना करने से यह सिद्ध होता है कि इसमें हानियों की अपेक्षा लाभ कहीं अधिक हैं।

साहस

उत्पत्ति के पाँच साधन होते है—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस या जोखिम। इन सब साधनों में साहस का कार्य ही अधिक महत्त्व का होता है। एक कारखाने में उत्पत्ति से जो लाभ या हानि होती है, वह सब साहसी के जिम्मे होती है। किसी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें लाभ होगा अथवा हानि। साहस का कार्य उत्पत्ति के सब साधन एक स्थान पर एकत्र करके उनके सहयोग से उत्पत्ति करना होता है।

साहसी को यह सोचना पड़ता है कि किस वस्तु का निर्माण करना चाहिए, श्रम और कच्चे माल की पूर्त्ति कैसे करनी चाहिए, पूँजी कैसे इकट्ठी करनी चाहिए, किस स्थान पर कारखाना खोलना चाहिए आदि। आधुनिक काल में संसार एक सूत्र में बँधा हुआ है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति केवल अपने देश की माँग के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण संसार की माँग पर दृष्टि रखकर की जाती है। इसका

फल यह होता है कि भिन्न-भिन्न व्यवसायियों में खूब स्पर्धा होती है। इन सब बातों का विचार साहसी को करना पड़ता है। इन कारणों से साहसी को कार्य-कुशल, दूरदर्शी तथा पैदाइशी नेता होना चाहिए।

अन्य देशों की अपेक्षा भारत में साहसियों की बहुत कमी है। स्वभावतः भारतवासी जोखिम के उद्योग-धन्धे करने से हिचकते हैं। वे ऐसे व्यवसाय में अपनी पूँजी लगाना चाहते हैं, जिसमें लाभ निश्चित हो। भारतवासियों की साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा अन्य देशों के निवासियों की अपेक्षा बहुत कम होती है। हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा बंक-प्रणाली तथा साख-प्रथा का प्रचार बहुत कम हुआ है। साधारणतः औद्योगिक व्यवसाय नहीं के बराबर रहा है। शिक्षा की कमी के कारण भारतवासी प्राचीन प्रथाओं के अनुयायी होते हैं। उनमें धन जमीन में गाड़कर रखने की प्रवृत्ति अधिक रहती है, जिससे पूँजी की कमी बनी रहती है। इन कारणों से भारतवर्ष में साहसियों की कमी है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—संगठन का क्या अर्थ है ?

उत्तर—उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों भूमि, श्रम, पूँजी आदि का सहयोग कराना ही संगठन का अर्थ है। संगठनकर्त्ता उत्पत्ति के लिए कच्चे माल, श्रमिक और पूँजी भिन्न-भिन्न स्रोतों से प्राप्त करता है। इन साधनों का सहयोग वह इस प्रकार करता है कि उत्पत्ति अधिक से अधिक हो सके। छोटे पैमाने की उत्पत्ति में ये सब साधन प्रायः संगठन-कर्ता स्वयं एकत्र करता है; परन्तु बड़े पैमाने की उत्पत्ति में एक ही व्यक्ति इन सब साधनों की पूर्त्ति नहीं कर सकता। इस कारण कच्चा माल, श्रम तथा पूँजी की पूर्त्ति भिन्न-

भिन्न व्यक्तियों के द्वारा की जाती है। उदाहरण के लिए, संगठनकर्त्ता कपड़ा बनाने के लिए कृषकों से रूई खरीदता है, श्रमियों को मासिक अथवा दैनिक वेतन पर नौकर रखता है, बंक से ऋण के रूप में पूँजी लेता है अथवा हिस्से (शेयर) बेचकर पूँजी प्राप्त करता है। इन सबका सहयोग संगठनकर्त्ता ही करता है, जिससे अधिक से अधिक मात्रा में उत्पत्ति हो सके।

२ – संगठनकर्त्ता के कर्त्तव्यों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—संगठनकर्त्ता के काम निम्न-लिखित हैं—

(क) कच्चा माल खरीदना,

(ख) श्रमियों को नियुक्त करना और

(ग) पूँजी प्राप्त करना। पूँजी के अन्तर्गत मशीन, औजार तथा धन, जो वेतन या मजदूरी के रूप में दिया जाता है, सब सम्मिलित हैं।

(घ) श्रमियों में उनकी योग्यता के अनुसार काम बाँटना, जिसे श्रम-विभाजन कहते हैं।

(ङ) उत्पत्ति की सीमा या पैमाना निर्धारित करना।

(च) बने हुए माल की विक्री का प्रबन्ध करना। संगठनकर्त्ता ही उत्पन्न किये हुए माल की विक्री का क्षेत्र तथा मूल्य निर्धारित करता है।

३—संगठनकर्त्ता में क्या क्या गुण होने चाहिएँ?

उत्तर—संगठनकर्त्ता में निम्न-लिखित गुण या विशेषताएँ होनी चाहिएँ—

(क) साधारण शिक्षा,

(ख) व्यावसायिक शिक्षा,

(ग) श्रम-संगठन की योग्यता,

(घ) नेतृत्व करने की योग्यता और

(ङ) दूरदर्शिता।

इन सबका विस्तृत वर्णन पुस्तक में किया जा चुका है।

४—श्रम विभाजन किसे कहते हैं? इससे क्या क्या लाभ होते हैं?

उत्तर—श्रम-विभाजन का अर्थ यह है कि आदि से अन्त तक कोई पूरा काम एक ही श्रमी से नहीं कराया जाता, बल्कि वह कार्य कई भागों या उप-क्रियाओं में बाँट दिया जाता है, और प्रत्येक उप-क्रिया के लिए अलग-अलग श्रमी नियुक्त किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, एक आलपिन एक ही व्यक्ति नहीं बनाता, बल्कि उसकी कई उपक्रियाएँ हैं, जिन्हें अलग-अलग व्यक्ति करते हैं। कोई श्रमी तार बनाता है, कोई तार काटता है, कोई नोक बनाता है कोई उसका सिरा बनाता है और कोई सबको कागज में लगाकर बिक्री के लिए तैयार करता है। श्रम-विभाजन के अनेक लाभ हैं जो ऊपर बतलाये जा चुके हैं।

५—साहसी का उत्पत्ति में क्या काम होता है?

उत्तर—उत्पत्ति में साहसी का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। उत्पत्ति में सदैव लाभ ही नहीं होता, बल्कि लाभ के साथ हानि भी लगी रहती है। कभी लाभ होता है, तो कभी हानि। यही जोखिम या साहस का भार सहना साहसी का काम होता है। उत्पत्ति के अन्य जितने साधन हैं, वे सब अपना-अपना पुरस्कार ले लेते हैं। उत्पन्न की हुई वस्तुओं की बिक्री के पहले ही साहसी इन साधनों के पुरस्कार चुका देता है। अब वस्तुओं की बिक्री का मूल्य यदि लागत मूल्य से अधिक हुआ तो साहसी को लाभ होगा। यदि बिक्री का मूल्य लागत मूल्य से कम हुआ तो साहसी को हानि उठानी पड़ेगी। हानि-लाभ का भार सहने का काम साहसी ही करता है।

११

उपज के सिद्धान्त

संगठन के प्रकरण में हम बतला चुके हैं कि संगठनकर्त्ता उपज की सीमा निर्धारित करता है। वही यह निश्चय करता है कि किस सीमा तक उपज की मात्रा बढ़ाई या घटाई जाय। वह इस बात का विचार करता है कि अमुक सीमा से आगे और अधिक श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ लगाने से उपज उसी अनुपात से होती है या उस अनुपात से कम। यदि उपज अनुपात से अधिक होती है, तो संगठनकर्त्ता के लिए श्रम तथा पूँजी की और इकाइयाँ बढ़ाना लाभदायक होगा। यदि इसके विपरीत इकाइयाँ बढ़ाने से उत्पत्ति में अनुपात से कम वृद्धि होती है, तो उत्पत्ति उसी बिन्दु पर रोक दी जायगी; क्योंकि ऐसा न करने से संगठनकर्त्ता को हानि होगी।

इस दृष्टि से उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो नियम मुख्य हैं—

(१) सीमान्त उत्पत्ति-ह्रास नियम और (२) सीमान्त उत्पत्ति-वृद्धि नियम।

सीमान्त उत्पत्ति-ह्रास नियम

प्रत्येक खेतिहर इस बात से परिचित है कि किसी एक सीमित भूमि के टुकड़े पर जिस अनुपात में मैं श्रम और पूँजी की इकाइयाँ बढ़ाऊँगा, उसी अनुपात में मुझे उन बढ़ाई हुई इकाइयों द्वारा उत्पत्ति नहीं प्राप्त होगी, यद्यपि कुल उपज में अवश्य वृद्धि हो जायगी। यदि ऐसा न होता तो किसान भूमि के एक ही टुकड़े पर खेती

करता और श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ बढ़ाकर उत्पत्ति की मात्रा भी इच्छानुसार बढ़ा लेता।

वास्तव में बात यह है कि पहली कुछ इकाइयों से तो उपज अनुपात में अधिक बढ़ती है, परन्तु कुछ समय के पश्चात् उपज अनुपात से कम होने लगती है। इसी को सीमान्त उपज-ह्रास नियम कहते हैं।

क (खेत)

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि एक खेतिहर एक भूमि के टुकड़े (जो ऊपर 'क' से सूचित किया गया है) पर खेती करना प्रारम्भ करता है। यदि वह १०) मूल्य के श्रम और पूँजी की इकाइयाँ क्रमशः बढ़ाता है, तो उपज की मात्रा में वृद्धि इस प्रकार होगी--

श्रम और पूँजी की इकाइयाँ	कुल उपज (मनों में)	सीमान्त उपज (मनों में)
पहली	५	५
दूसरी	१२	७
तीसरी	२०	८
चौथी	२५	५
पाँचवीं	२८	३

(प्रत्येक इकाई का मूल्य १०) है।)

यह सारिणी देखने से ज्ञात होता है कि दूसरी इकाई द्वारा उपज पहली इकाई की अपेक्षा अधिक हुई है। पहली इकाई से केवल ५ मन अनाज प्राप्त हुआ था; लेकिन दूसरी इकाई से उपज ७ मन और अधिक अर्थात् कुल १२ मन हुई। तीसरी इकाई से उपज और

भी ८ मन अधिक हुई। यह भी दूसरी इकाई की उपज से अधिक है। तीसरी इकाई तक उपज अनुपात में बढ़ती जा रही है। चौथी इकाई लगाने से उपज अनुपात में नहीं बढ़ी; उससे सीमान्त उपज केवल ५ मन बढ़ी। इसी प्रकार पाँचवीं इकाई से उपज अनुपात में और भी कम होकर केवल ३ मन रह गई, यद्यपि कुल उपज में वृद्धि होती जा रही है।

उपर्युक्त उदाहरण में हमने भूमि के टुकड़े को सीमित रक्खा है तथा प्रत्येक इकाई का मूल्य १०) रखा है।

यह सीमान्त उपज-ह्रास नियम कृषि, खानों की खुदाई, मछली मारने, मिट्टी के बरतन बनाने आदि में लागू होता है। इन व्यवसायों में मनुष्य को प्रकृति पर निर्भर रहना पड़ता है। उसे अपनी बुद्धि लगाने का क्षेत्र या अवकाश कम मिलता है। मनुष्य प्रकृति पर धीरे धीरे विजय प्राप्त करता जा रहा है और कुछ अंशों में उसने विजय प्राप्त भी कर ली है। परन्तु अन्त में उसे प्रकृति का ही सहारा लेना पड़ता है।

सीमान्त उत्पत्ति बढ़ने का नियम

हम ऊपर बतला चुके हैं कि कुछ व्यवसायों में सीमान्त उपज घटने का नियम लागू होता है; लेकिन कुछ उद्योग (Industries) ऐसे हैं, जिनमें यह नियम नहीं लागू होता। उनमें ज्यों-ज्यों श्रम और पूँजी की इकाइयाँ बढ़ाई जाती हैं, त्यों-त्यों उत्पत्ति भी उसी अनुपात में बढ़ती चलती है। इसी लिए इसको सीमान्त उपज-वृद्धि का नियम कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति यदि फाउन्टेन पेन बनाने का कारखाना खोलता है और उसमें श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ क्रमशः बढ़ाता चलता है, तो उत्पत्ति में वृद्धि भी नीचे की सारिणी के अनुसार होती जायगी।

श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ	कुल उत्पत्ति फाउन्टेन पेनों की संख्या	सीमान्त उत्पत्ति फाउन्टेन पेनों की संख्या
१	५,०००	×
२	८,०००	३,०००
३	१२,०००	४,०००
४	१७,०००	५,०००

(श्रम और पूँजी की इकाइयाँ बराबर समान मूल्य की बढ़ाई जाती हैं और एक इकाई का मूल्य ५०००) है, जब कि प्रत्येक फाउन्टेन पेन का मूल्य दो रूपए है।)

ऊपर की सारिणी से ज्ञात होता है कि सीमान्त उत्पत्ति क्रमशः बढ़ती जाती है। जिस सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति के अनुपात में वृद्धि होती रहेगी, उस सीमा तक संगठनकर्त्ता श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ बढ़ाता रहेगा। इसी को सीमान्त उत्पत्ति-वृद्धि नियम कहते हैं। वस्तुओं का निर्माण करनेवाले उद्योग-धन्धों में मनुष्य को अपनी बुद्धि, कार्य-कुशलता और श्रम के संगठन का अधिक अवसर मिलता है। यही कारण है कि इस प्रकार के उद्योगों में सीमान्त-उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है। ऐसे उद्योग-धन्धों में मनुष्य अपनी बुद्धि, श्रम-विभाजन, अधिक मशीनों के प्रयोग तथा अन्य प्रकार की सुविधाओं से उत्पत्ति बढ़ाता रहता है। इन उद्योगों में प्रकृति का हाथ बहुत कुछ कम रहता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—सीमान्त उत्पत्ति-ह्रास नियम समझाइए।

उत्तर—ऊपर पुस्तक में दिया गया है।

२—सीमान्त उत्पत्ति-वृद्धि नियम क्या है ?

उत्तर—ऊपर पुस्तक में दिया गया है।

३—किन-किन उद्योगों में सीमान्त उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है?

उत्तर—जिन उद्योग-धन्धों में मनुष्य प्रकृति पर अधिक निर्भर रहता है, उनमें सीमान्त उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है। ऐसे उद्योग-धन्धे, कृषि, खानों की खुदाई, मछली मारने तथा मिट्टी के बरतन बनाने के व्यवसाय आदि हैं। कृषि में जल-वायु, खेतों की उर्वरा शक्ति, जमीन की किस्म आदि बातें प्रकृति की देन रहती हैं। इसी प्रकार खानों की खुदाई में खनिज पदार्थों का थोड़ा या अधिक प्राप्त होना प्रकृति पर निर्भर है।

विनिमय

(Exchange)

मनुष्य जितनी वस्तुएँ उत्पन्न करता है, उन सबका उपभोग स्वयं नहीं करता, बल्कि निर्माण की हुई वस्तुएँ बेच अथवा बदल कर दूसरों द्वारा निर्माण की हुई वस्तुएँ लेता है। इस प्रकार वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता रहता है। उदाहरण के लिए, यदि एक मनुष्य के पास गेहूँ है और वह उसे बदलकर दूसरे से उसके बदले में चावल प्राप्त करता है, तो यह विनिमय कहा जायगा। चावल प्राप्त करने का दूसरा साधन यह है कि गेहूँ बेचकर द्रव्य प्राप्त किया जाय और उस द्रव्य के द्वारा चावल खरीदा जाय। इन दोनों प्रकार के कार्यों को विनिमय कहते हैं।

विनिमय की परिभाषा

विनिमय वह ऐच्छिक और कानून-सम्मत कार्य है जिससे मनुष्य एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त करता है। ऐसे कार्य से दोनों पक्षों को लाभ होता है।

विनिमय के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य ये चार बातें हैं—

(१) स्वैच्छिक या अपनी इच्छा से किया हुआ कार्य (Voluntary)—इसका अर्थ यह है कि जो विनिमय हो, वह दोनों पक्षों की स्वीकृति से किया गया हो। यदि एक व्यक्ति अपनी वस्तु दूसरे व्यक्ति को जबरदस्ती दे और उसकी वस्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध छीन ले तो यह विनिमय नहीं कहा जायगा।

(२) कानून की दृष्टि से अनुचित न हो—इसका अर्थ यह है कि यदि एक व्यक्ति धोखा देकर दूसरे से उसकी किसी वस्तु का विनिमय करे तो यह कानून के विरुद्ध होगा और इसी लिए यह विनिमय नहीं कहा जायगा।

(३) दो पक्षों का होना—विनिमय के लिए दो पक्षों का होना परम आवश्यक है। विना दो व्यक्तियों के विनिमय हो ही नहीं सकता।

(४) दोनों पक्षों को विनिमय से लाभ होना—विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ होना आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति को विनिमय करने से लाभ न होगा, तो वह कदापि विनिमय करने के लिए राजी न होगा।

विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ

हम ऊपर बतला चुके हैं कि विनियय से कई लाभ होते हैं और वे लाभ दोनों पक्षों को होते हैं।

मान लीजिए कि "क" और "ख" दो मनुष्य विनिमय करना चाहते हैं। "क" के पास ५ टोकरियाँ हैं और "ख" के पास ५ घड़े हैं। "क" और "ख" को उनसे जितनी अनुमानित या काल्पनिक उपयोगिता प्राप्त होगी, वह नीचे की सारिणी से विदित होगी।

इकाइयों की संख्या	"क" के लिए टोकरियों की उपयोगिता	"क" के लिए घड़ों की उपयोगिता	"ख" के लिए घड़ों की उपयोगिता	"ख" के लिए टोकरियों की उपयोगिता
१	१२०	१००	१०५	१००
२	९०	९५	८५	८०
३	८०	७०	६५	६०
४	५०	५५	५०	४५
५	१०	२०	१५	२५
	३५०		३२०	

यह सारिणी बिल्कुल कल्पित है। "क" और "ख" के लिए टोकरियों तथा घड़ों की जो उपयोगिता इसमें दिखलाई गई है, उससे यह प्रकट होता है कि प्रथम इकाई द्वारा प्राप्त उपयोगिता सबसे अधिक है। उसके बाद उपयोगिता क्रमशः घटती गई है। इसका कारण वही उपयोगिता-ह्रास-नियम है जो पहले बतलाया जा चुका है।

"क" के पास घड़ा नहीं है। वह घड़ों के द्वारा जो उपयोगिता प्राप्त करेगा, वह भी सारिणी में दिखलाई गई है। वह अपनी अन्तिम टोकरी की उपयोगिता १० मानता है; और "ख" का जो घड़ा वह प्राप्त करेगा, उसकी उपयोगिता १०० मानता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह १०० – १० = ९० इकाइयों का लाभ उठाता है। इस कारण जब तक उसे लाभ होगा, तब तक वह टोकरियाँ देकर घड़े लेता रहेगा।

"ख" भी ठीक यही बात ध्यान में रखकर अपने अन्तिम घड़े से, जिससे उसे केवल १५ उपयोगिता प्राप्त होती है, बदलकर टोकरी की १०० इकाइयों की उपयोगिता प्राप्त करेगा। इस प्रकार 'ख' को १००–१५ = ८५ इकाइयों की उपयोगिता का लाभ होता है। जब तक "ख" को लाभ होगा, तब तक वह भी विनिमय करता रहेगा।

विनिमय से लाभ

(१) विनिमय से वस्तुओं का बाजार बढ़ता या विस्तृत होता है—सब लोग अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए सब वस्तुएँ स्वयं नहीं बना सकते; इसी लिए उन्हें विनिमय का सहारा लेना पड़ता है; अतः विनिमय हर चीज का बाजार बढ़ाता है।

(२) श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है—इसका अर्थ यह है कि विनिमय का सुभीता होने पर हर मनुष्य वही वस्तु अथवा वस्तु

का वही भाग बनावेगा, जिसे बनाने में वह अधिक कुशल होगा; और उसका विनिमय करके अपनी आवश्यकता की दूसरी वस्तुएँ सहज में प्राप्त कर लेगा।

(३) सभ्यता का विकास होता है—जब हम वस्तुओं का विनिमय करते हैं, तब हमारी आवश्यकताएँ और अधिक बढ़ जाती हैं। आधुनिक संसार में आवश्यकताओं का अधिक होना ही सभ्यता का लक्षण है।

(४) विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ होता है—यह बात पूरी तरह से ऊपर समझाई जा चुकी है।

(५) दुर्लभ वस्तुएँ सहज में प्राप्त होती हैं—प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार सब वस्तुएँ एक ही देश में उत्पन्न या प्राप्त नहीं होतीं। जो वस्तुएँ एक देश में नहीं होतीं, उन्हें विनिमय के बिना प्राप्त करना सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान का पाट या सन दूसरे देशोंवाले लोग विनिमय के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। हम लोग भी विदेशों से मशीनें, दवाइयाँ आदि विनिमय के द्वारा ही प्राप्त करते हैं।

विनिमय के भेद

विनिमय दो प्रकार का होता है—(१) वस्तु-विनिमय और (२) क्रय विक्रय।

विनिमय
├── वस्तु-विनिमय
└── क्रय-विक्रय

(१) वस्तु-विनिमय—जब हम एक वस्तु देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त करते हैं, तो इसे वस्तु का विनिमय कहा जाता है। जैसे—गेहूँ के बदले में चावल लेना या अनाज देकर तरकारी लेना आदि। ऐसे सब कार्य 'विनिमय' कहलाते हैं।

(२) क्रय-विक्रय—इसका अर्थ यह होता है कि एक वस्तु नगद दाम पर बेचकर द्रव्य प्राप्त करना; और तब उस द्रव्य के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार दूसरी वस्तुएँ प्राप्त करना या खरीदना।

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ

वस्तु-विनिमय में नीचे लिखी कठिनाइयाँ होती हैं—

(क) आवश्यक दोहरा संयोग—इसके लिए ऐसे दो मनुष्यों का संयोग होना आवश्यक होता है, जिन्हें एक दूसरे की वस्तु की आवश्यकता हो, और जो अपनी वस्तु देकर दूसरे की वस्तु लेना चाहते हों। यदि हमारे पास गेहूँ हो और हमें चावल की आवश्यकता हो और आपके पास चावल हो और आपको कपड़े की आवश्यकता हो तो हमारा और आपका वस्तु-विनिमय नहीं हो सकेगा।

(ख) विनिमय का अनुपात निश्चित करना—वस्तु-विनिमय में दूसरी कठिनाई अनुपात निश्चित करने में होती है। मान लीजिए कि दो मनुष्यों के पास दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा मिलनी चाहिए, यह सहज में और पूरी तरह से जल्दी निश्चय नहीं हो पाता।

(ग) वस्तु-विभाजन की कठिनाइयाँ—बहुत सी वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिनका यदि हम विभाजन करें तो उनका मूल्य बिलकुल नष्ट हो जाता है या विभाजन के पूर्व का मूल्य नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए, यदि हम एक घोड़े के दो टुकड़े कर डालें तो उसका सारा मूल्य नष्ट हो जायगा। या यदि हम पूरे चाकू का फल अलग कर दें और मूठ अलग निकाल दें, तो इन अलग-अलग टुकड़ों का वह मूल्य नहीं रहे जायगा जो पूरे चाकू का था।

(घ) स्थानान्तरण की कठिनाई—वस्तु-विनिमय की अन्तिम कठिनाई वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में होती है। यदि

लिए, गौ प्राप्त करना चाहे तो उसे घोड़ा अपने साथ लेकर तब तक जगह-जगह घूमना पड़ेगा, जब तक उसे ऐसा दूसरा व्यक्ति न मिले जो अपनी गौ के बदले में घोड़ा लेना चाहता हो।

कोई मनुष्य अपने घोड़े के बदले में कोई दूसरी वस्तु, उदाहरण के

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—विनिमय का क्या अर्थ है? इसके लिए किन-किन बातों का होना आवश्यक है?

उत्तर—विनिमय वह ऐच्छिक तथा कानून-सम्मत कार्य है जिसमें मनुष्य अपनी कोई वस्तु देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त करता है। इस अदला-बदली से दोनों व्यक्तियों को लाभ पहुँचता है। विनिमय में निम्न-लिखित बातें होना आवश्यक है—

(क) दो पक्ष होने चाहिएँ।

(ख) विनिमय अपनी अपनी इच्छा के अनुसार होना चाहिए।

(ग) विधान द्वारा सम्मत होना चाहिए। और

(घ) उससे दोनों पक्षों को लाभ होना चाहिए।

२—दोनों पक्षों को किस प्रकार से लाभ होता है? उदाहरण देकर समझाइए।

उत्तर—उत्तर विस्तृत रूप से पुस्तक में दिया गया है।

३—विनिमय कितने प्रकार का होता है?

उत्तर—विनिमय दो प्रकार का होता है—

विनिमय

वस्तु-विनिमय | क्रय-विक्रय

(क) वस्तु विनिमय—जब एक वस्तु देकर उसके बदले में दूसरी

वस्तु प्राप्त की जाती है, तो उसे वस्तु-विनिमय कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि मोहन अपना गेहूँ देकर उसके बदले में सोहन से चावल लेता है, तो इसको वस्तु-विनिमय कहेंगे।

(ख) क्रय-विक्रय—जब एक वस्तु बेचकर द्रव्य प्राप्त किया जाता है और उस द्रव्य के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार दूसरी वस्तुएँ खरीदी जाती हैं, तो इसे क्रय-विक्रय द्वारा विनिमय कहेंगे।

दोनों प्रकार के विनिमयों में अन्तर यह है कि पहले प्रकार के विनिमय में द्रव्य का माध्यम नहीं रहता, लेकिन दूसरे प्रकार के विनिमय में द्रव्य की सहायता से, अर्थात् उसे माध्यम बनाकर, विनिमय किया जाता है।

४—वस्तु-विनिमय में क्या क्या कठिनाइयाँ होती हैं?

उत्तर—वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं—

(क) वस्तु-विभाजन की कठिनाई।

(ख) दोहरे संयोग की अपेक्षावाली कठिनाई।

(ग) वस्तु के मूल्यांकन की कठिनाई। और

(घ) वस्तुओं के स्थानान्तरण की कठिनाई।

५—विनिमय से क्या लाभ होते हैं?

उत्तर—विनिमय से ये लाभ होते हैं—

(क) वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है।

(ख) श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है।

(ग) सभ्यता का विकास होता है। और

(घ) दुर्लभ वस्तुएँ सहज में प्राप्त होती हैं।

बाजार और बाजार-मूल्य

साधारण बोल-चाल की भाषा में 'बाजार' शब्द से वह स्थान विशेष समझा जाता है, जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं। परन्तु अर्थ-शास्त्र में इस शब्द का अर्थ बहुत व्यापक होता है। उसमें 'बाजार' शब्द का अर्थ वह स्थान विशेष ही नहीं होता, बल्कि दूर दूर के वे समस्त क्षेत्र, जिनमें क्रेता और विक्रेता फैले रहते हैं, 'बाजार' कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि बनारस का व्यापारी टेलीफोन के द्वारा कलकत्ते के किसी व्यापारी से माल खरीदता है, तो बनारस और कलकत्ते का क्षेत्र अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से 'बाजार' कहा जायगा।

बाजार की परिभाषा—अर्थ-शास्त्र में बाजार शब्द से किसी स्थान विशेष का ही नहीं, बल्कि उस सम्पूर्ण क्षेत्र का बोध होता है, जिसमें या जितनी दूर में उस वस्तु के क्रेता और विक्रेता फैले हों, उस वस्तु की बिक्री के लिए वे आपस में स्पर्धा करें और सम्पूर्ण क्षेत्र में उस वस्तु के मूल्य में समानता हो।

इस परिभाषा का विश्लेषण करने से यह पता चलता है कि बाजार में निम्न-लिखित बातें होना आवश्यक है—

(१) वह सारा क्षेत्र जितनी दूर में क्रेता और विक्रेता फैले हों।

(२) वस्तु के क्रेता और विक्रेता का होना।

(३) पूर्ण स्पर्धा। और

(४) वस्तु के मूल्य में समानता।

(१) सम्पूर्ण क्षेत्र—सम्पूर्ण क्षेत्र से हमारा अभिप्राय यह है कि जितनी दूरी या जितने क्षेत्र में एक वस्तु के बेचनेवाले और खरीदने-वाले फैले रहते हैं, वह सब क्षेत्र 'बाजार' कहा जाता है। उदाहरण के लिए, सोना, चाँदी, गेहूँ आदि वस्तुओं के खरीदने और बेचनेवाले सारे संसार में फैले रहते हैं; इसलिए इन वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र सारा संसार है।

(२) क्रेता और विक्रेता का होना—किसी वस्तु के लिए बेचनेवाले तथा खरीदनेवाले दोनों का होना आवश्यक है। मान लीजिए कि दूकानदार दूकान पर सब चीजें सजाकर तो रखता है, लेकिन खरी-दनेवाला कोई नहीं है, तो यह बाजार नहीं कहा जायगा। इसके विपरीत यदि खरीदनेवाला कोई चीज खरीदना तो चाहता है, पर बेचनेवाला कोई नहीं है, तो भी वहाँ बाजार न होगा।

(३) पूर्ण स्पर्धा—क्रेता और विक्रेता में पूर्ण रूप से स्पर्धा होनी चाहिए। दोनों स्पर्धा करने में स्वतन्त्र हों। यदि स्वतन्त्र रूप से स्पर्धा न हो तो वह आर्थिक दृष्टि से बाजार नहीं होगा।

(४) मूल्य में समानता—अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से वही बाजार पूर्ण बाजार कहा जाता है, जिसके सम्पूर्ण क्षेत्र में वस्तुओं का एक ही मूल्य हो। यदि एक स्थान पर मूल्य दूसरे स्थान की अपेक्षा कम या अधिक हो तो वह बाजार अपूर्ण समझा जायगा। उदाहरण के लिए, सोने-चाँदी का भाव सारे संसार में प्रायः एक ही रहता है। एक स्थान के मूल्य तथा दूसरे स्थान के मूल्य में जो कमी या अधिकता रहती है, वह माल भेजने और मँगाने के खर्च के कारण ही होती है और वह भी नाम मात्र की ही रहती है। इससे सोने-चाँदी का बाजार सारा संसार है।

बाजार-मूल्य

जब हम बाजार में कोई वस्तु खरीदने जाते हैं, तब दूकानदार

पहले मोल-चाल करता है। मोल-चाल के बाद एक ऐसा मूल्य निश्चित होता है, जिस पर दूकानदार वस्तु बेचने के लिए तथा खरीदनेवाला खरीदने के लिए राजी होता है। यही मूल्य बाजार-मूल्य है। बाजार-मूल्य वह मूल्य है जिसपर खरीदनेवाला तथा बेचनेवाला दोनों उस समय के लिए तैयार होते हैं। उदाहरण के लिए, एक विद्यार्थी एक फाउन्टेन पेन खरीदने जाता है। दूकानदार पहले उस पेन का मूल्य १२) बतलाता है। विद्यार्थी उसका मूल्य ८) आँकता है। दूकानदार मूल्य घटाकर ११) कहता है तो विद्यार्थी मूल्य बढ़ा कर ९) कहता है। इस मोल-भाव के बाद दूकानदार मूल्य घटाकर १०) कहता है। विद्यार्थी भी मूल्य बढ़ाकर १०) में लेनें के लिए तैयार होता है। यही १०) उस समय के लिए उस कलम का बाजार-मूल्य कहा जायगा। इसका विशेष विवेचन आगे किया जायगा।

मूल्य-निर्धारण की सीमाएँ

दूकानदार ने जो मूल्य पहले बतलाया था, उसे मूल्य-निर्धारण की ऊपरी सीमा कहते हैं; और विद्यार्थी ने जो मूल्य पहले आँका था, वह मूल्य-निर्धारण की नीची सीमा कही जाती है। ऊपरवाले उदाहरण में ऊपरी सीमा १२) और नीची सीमा ८) थी। इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच में कहीं बाजार मूल्य निर्धारित होता है। बाजार-मूल्य सदा एक-सा नहीं रहता, बल्कि समय-समय पर बदलता रहता है।

माँग और पूर्त्ति का मूल्य

उपर्युक्त उदाहरण में दूकानदार जो मूल्य माँग रहा था, वह पूर्ति का मूल्य कहा जाता है; अर्थात् जिस मूल्य पर एक विक्रेता किसी वस्तु की निश्चित मात्रा बेचने को तैयार होता है, वही पूर्त्ति का मूल्य कहा जाता है।

खरीदनेवाला जिस मूल्य पर किसी वस्तु की निश्चित मात्रा खरीदने को तैयार होता है, वह माँग का मूल्य कहा जाता है। जिस मूल्य पर माँग और पूर्त्ति के मूल्य आकर बराबर या एक हो जाते हैं, वही बाजार-मूल्य कहा जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण में दूकानदार फाउन्टेन पेन १०) पर बेचने के लिए तथा विद्यार्थी उसी मूल्य पर खरीदने के लिए तैयार हो गया था, इसलिए यही उस कलम का बाजार-मूल्य हुआ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बाजार-मूल्य वह मूल्य है, जिस मूल्य पर माँग और पूर्त्ति के मूल्य में समानता हो जाती है—दोनों एक हो जाते हैं।

माँग

मनुष्य की इच्छाएँ अनेक होती हैं। उनमें से कुछ इच्छाएँ प्रबल होती हैं तथा उनकी पूर्त्ति के लिए मनुष्य के पास साधन भी होते हैं। शेष इच्छाएँ केवल मृग-तृष्णा के समान रहती हैं, जिनकी पूर्त्ति कभी नहीं हो पाती; क्योंकि उनके लिए हमारे पास साधन नहीं होते। संसार में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसकी सब इच्छाएँ पूरी हुई हों। जो इच्छाएँ प्रबल होती हैं तथा जिनकी पूर्त्ति के लिए मनुष्य के पास साधन रहता है, उन्हें माँग कहते हैं। उदाहरण के लिए, आपको एक पुस्तक की आवश्यकता है। उसे खरीदने के लिए आप जेब में रुपए रखकर बाजार जाते और मोल-भाव करके पुस्तक खरीदते हैं, तो पुस्तक-प्राप्ति की यह इच्छा माँग कही जायगी। पुस्तक खरीदने के बाद यदि आप कुछ अन्य वस्तुओं का मूल्य केवल अपनी जिज्ञासा पूरी करने के लिए पूछते हैं, तो वह आपकी माँग नहीं है। जो चीज खरीदने के लिए न तो पास में साधन हो और न जिसकी इच्छा में प्रबलता हो, वह माँग नहीं, बल्कि इच्छा मात्र रहेगी।

माँग सदैव एक मूल्य पर होती है। यदि हम कहें कि हमें एक फाउन्टेन पेन की माँग है, तो यह कथन ठीक और पूरा नहीं है। माँग के साथ मूल्य का अवश्य उल्लेख होना चाहिए। ठीक कथन यह होगा कि हमें १०) मूल्य की एक फाउन्टेन पेन की आवश्यकता है। तभी हम इसे माँग कह सकते हैं।

माँग की तालिका

माँग की तालिका वह तालिका है जिससे यह सूचित होता है कि भिन्न-भिन्न मूल्यों पर एक वस्तु की माँग में कितनी वृद्धि अथवा कमी होती है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति की दूध की कल्पित माँग इस प्रकार है—

मूल्य(आनों में) प्रति सेर		माँग सेरों में
१२ आने	...	१ सेर
१० ,,	...	१½ ,,
८ ,,	...	२ सेर
६ ,,	...	२½ ,,

उक्त तालिका देखने से पता चलता है कि जब मूल्य १२ आने सेर से घटकर १० आने प्रति सेर हो जाय तो दूध की माँग एक सेर से बढ़कर डेढ़ सेर हो जायगी। अर्थात् यदि दूध १२ आने सेर हो तो हम सेर भर से काम चला लेंगे। पर यदि वह १० आने सेर मिले तो हम डेढ़ सेर ले लेंगे। कोई वस्तु सस्ती होने पर उसकी माँग बढ़ जाती है। इसी आधार पर माँग का नियम निर्धारित होता है।

माँग का नियम

किसी वस्तु के मूल्य में ज्यों-ज्यों कमी होती है, त्यों-त्यों उसकी

खपत अर्थात् माँग अधिक होती है। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसकी माँग कम होती जाती है। इस प्रकार मूल्य और माँग में घनिष्ठ सम्बन्ध है। माँग सदा मूल्य की विपरीत दिशा में रहती है।

पूर्त्ति तथा पूर्त्ति-नियम

जिस प्रकार माँग और इच्छा में अन्तर है, उसी प्रकार पूर्त्ति और भंडार (स्टॉक) में भी अन्तर है। किसी वस्तु की पूर्त्ति से यही अभिप्राय है कि एक निश्चित मूल्य पर विक्रेता किसी वस्तु की कितनी मात्रा बेचने को तैयार रहता है। जिस प्रकार बिना मूल्य के माँग की मात्रा या संख्या बतलाना ठीक नहीं है, उसी प्रकार बिना मूल्य के पूर्त्ति की मात्रा या संख्या बतलाना भी ठीक नहीं समझा जायगा। माँग की ही तरह पूर्त्ति के साथ भी मूल्य अवश्य बतलाया जाना चाहिए।

पूर्त्ति की तालिका

दूध की कल्पित पूर्त्ति

मूल्य (आनों में) प्रति सेर		पूर्त्ति सेरों में
१२ आना	...	३ सेर
१० आना	...	२½ सेर
८ आना	...	२ सेर
६ आना	...	१ सेर

इस तालिका से यह पता चलता है कि ज्यों-ज्यों मूल्य में कमी होती जाती है, त्यों-त्यों पूर्त्ति की मात्रा में भी कमी होती जाती है; और जब मूल्य में वृद्धि होती है, तब पूर्त्ति की मात्रा भी मूल्य के साथ-साथ बढ़ती जाती है। इसका कारण यह है कि जब किसी

वस्तु का मूल्य अधिक हो जाता है, तब बेचनेवाला चाहता है कि हम अधिक मात्रा में वस्तु बेचें; क्योंकि बेचनेवाले को बढ़े हुए मूल्य पर माल बेचने में अधिक लाभ होगा।

पूर्त्ति का नियम

पूर्त्ति का नियम ऐसी तालिका के आधार पर ही निर्धारित होता है। मूल्य घटने से पूर्त्ति की मात्रा भी घट जाती है और मूल्य बढ़ने से पूर्त्ति की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है। पूर्त्ति सदा मूल्य के साथ-साथ बढ़ती अथवा घटती है।

मूल्य-निर्धारण

माँग और पूर्त्ति का अर्थ समझ लेने पर अब हम बाजार-मूल्य का अच्छी तरह विवेचन कर सकते हैं। हम पहले ही यह बतला चुके हैं कि बाजार-मूल्य वह मूल्य है, जिस पर माँग और पूर्त्ति के मूल्य में समानता हो जाती है। अर्थात् जिस मूल्य पर बेचनेवाला तथा खरीदनेवाला दोनों राजी हो जाते हैं, वही बाजार-मूल्य है। यही बात हम माँग और पूर्त्ति की तालिका के द्वारा इस प्रकार दिखा सकते हैं—

दूध के बाजार-मूल्य का निर्धारण

माँग सेरों में	मूल्य आनों में	पूर्त्ति सेरों में
१	१२	३
१½	१०	२½
२	८	२
२½	६	१

यह तालिका देखने से ज्ञात होता है कि ८ आने प्रति सेर के भाव से जब दूध मिलता है, तब माँग और पूर्त्ति की मात्राएँ दोनों

बराबर रहती हैं । इस मूल्य पर दूकानदार दो सेर बेचने को तथा खरीदनेवाला भी दो सेर खरीदने को तैयार रहता है। बस यही दूध का बाजार-मूल्य हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—'बाजार' शब्द का क्या अर्थ होता है ?

उत्तर—साधारण भाषा में 'बाजार' शब्द से कोई ऐसा स्थान समझा जाता है, जहाँ वस्तुएँ खरीदी तथा बेची जाती हों। लेकिन अर्थ-शास्त्र में 'बाजार' शब्द से किसी स्थान विशेष का अर्थ नहीं समझा जाता, बल्कि उस सम्पूर्ण क्षेत्र का बोध होता है, जितनी दूर में उस वस्तु के क्रेता तथा विक्रेता फैले हों और उस वस्तु के खरीदने और बेचने के लिए आपस में स्पर्धा करें। इस प्रकार अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से बाजार की ये विशेषताएँ हैं—

(१) एक क्षेत्र का होना।
(२) क्रेता तथा विक्रेता का होना।
(३) खरीदनेवाले और बेचनेवाले में पूरी स्पर्धा होना। और
(४) मूल्य में समानता होना।

२—माँग और पूर्त्ति का क्या अर्थ है ? माँग और पूर्त्ति की तालिका से आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—किसी निश्चित समय में किसी वस्तु की वह मात्रा जो एक निश्चित मूल्य पर खरीदी जाती है, उस वस्तु की माँग कहलाती है।

पूर्त्ति से हमारा अभिप्राय उस बेची जानेवाली मात्रा से होता है, जो एक निश्चित मूल्य पर तथा निश्चित समय पर बिकने के लिए आती है।

किसी वस्तु का मूल्य-निर्धारण इन्हीं दोनों बातों के आधार पर होता है।

माँग की तालिका (सारिणी) से हमारा अभिप्राय उस तालिका से है जिससे यह पता चलता है कि भिन्न-भिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की कितनी माँग होगी।

पूर्त्ति की तालिका वह तालिका है जिससे यह सूचित होता है भिन्न-भिन्न मूल्य पर किसी वस्तु की कितनी मात्रा बिकने को आती है, विशेष विवरण प्रकरण में देखें।

३—बाजार-मूल्य और लागत-मूल्य में क्या अन्तर है? उदाहरण देकर समझाइये?

उत्तर—बाजार-मूल्य वह मूल्य है, जो एक समय में माँग और पूर्त्ति द्वारा निश्चित किया जाता है। अर्थात् वह मूल्य जिस पर माँग और पूर्ति की मात्रा बराबर होती है, बाजार-मूल्य कहलाता है। उदाहरण के लिए, ऊपरवाले प्रश्न के उत्तर में हमने बतलाया था कि ८ आने प्रति सेर के भाव से माँग की मात्रा भी २ सेर थी और पूर्त्ति की मात्रा भी २ सेर थी। यही ८ आना उस समय का बाजार-मूल्य होगा।

लागत-मूल्य और बाजार-मूल्य में अन्तर होता है। लागत-मूल्य उस धन को कहते हैं जो उस वस्तु विशेष के उत्पन्न करने या बनाने में लगा हो। यदि एक गौ को खिलाने और उससे दूध प्राप्त करने का खर्च ७ आने सेर पड़ता है, तो यही ७ आने दूध का लागत-मूल्य कहा जायगा। पर इससे यह न समझना चाहिए कि बाजार-मूल्य सदा लागत मूल्य से अधिक ही होगा। लागत मूल्य से बाजार मूल्य अधिक भी हो सकता है और कम भी। माँग और पूर्त्ति की जैसी दशा होगी, उसी के अनुसार बाजार-मूल्य कम या अधिक होगा।

४—बाजार-मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?

उत्तर—जिस मूल्य पर माँग और पूर्त्ति की मात्रा बराबर हो जाती है, वही बाजार-मूल्य होता है। जब हम बाजार में कोई चीज खरीदने जाते हैं, तब दूकानदार अपनी चीज का जो मूल्य माँगता है, वह पूर्त्ति का मूल्य कहलाता है; और जो मूल्य ग्राहक देने को तैयार होता है, वह माँग का मूल्य कहलाता है। मोल-भाव के बाद ग्राहक और दूकानदार में जो मूल्य निश्चित होता है, वही बाजार-मूल्य कहलाता है। दूकानदार ने १० आने सेर मूल्य माँगा और ग्राहक ने कहा—६ आने सेर। मोल-भाव से ८ आने सेर का भाव निश्चित हुआ। यही बाजार-मूल्य होगा।

१४

द्रव्य तथा बैंक

हम विनिमयवाले प्रकरण में बतला चुके हैं कि विनिमय दो प्रकार का होता है—(१) वस्तु-विनिमय और (२) क्रय-विक्रय। क्रय-विक्रयवाला विनिमय द्रव्य के माध्यम द्वारा होता है, जो आधुनिक युग में अधिक प्रचलित है। हम लोग अपनी इच्छा की वस्तुएँ रुपये देकर खरीदते हैं और अपनी वस्तुओं का मूल्यांकन भी रुपये-पैसे में करते हैं। वस्तु-विनिमय की प्रथा अब प्रायः समाप्त-सी हो गई है।

द्रव्य की उत्पत्ति

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों के कारण ही द्रव्य की उत्पत्ति और प्रचलन हुआ था। इस समय हम अपने देश में रुपये, पैसे तथा नोटों को द्रव्य मानते हैं। परन्तु द्रव्य के इतिहास से पता चलता है कि समय-समय पर अनेक वस्तुएँ द्रव्य का काम देती रही हैं। ज्यों-ज्यों हम लोगों की आर्थिक अवस्था उन्नत होती गई, त्यों-त्यों द्रव्य-पदार्थों में भी परिवर्तन होता गया। किसी समय जानवरों की खालें, धनुष, तीर, गौएँ-भैंस, नमक, शंख, कौड़ियाँ, चाय, अनाज आदि वस्तुएँ द्रव्य मानी जाती थीं। आधुनिक युग में सोने, चाँदी के अतिरिक्त कागजी नोट भी द्रव्य के रूप में चलते हैं। द्रव्य पदार्थ आर्थिक विकास के प्रतीक होते हैं।

उत्तम द्रव्य-पदार्थ की विशेषताएँ

उत्तम द्रव्य-पदार्थ में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिएँ—

(१) पहचान का निश्चय—द्रव्य-पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि लोग उसे सहज में पहचान सकें। जैसे सोने-चाँदी में एक विशेष प्रकार की चमक होती है, तथा भारीपन होता है। चमक तथा भारीपन के कारण सहज में हम लोग द्रव्य पहचान सकते हैं।

(२) वहनीयता—द्रव्य-पदार्थ में दूसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि हम सुगमता-पूर्वक कम व्यय में उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकें या भेज सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि द्रव्य पदार्थ हल्का हो जिससे वह वहनीयता का भार सह सके और साथ ही उसका मूल्य भी अधिक हो।।

(३) अक्षय-शीलता—द्रव्य-पदार्थ शीघ्र नष्ट होनेवाला नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि वह शीघ्र नष्ट होनेवाला पदार्थ होगा तो अधिक समय तक विनिमय का माध्यम नहीं रह सकेगा। फिर हम द्रव्य-पदार्थ अपने पास रखकर करेंगे ही क्या, जब वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा ?

(४) विभाजकता—द्रव्य-पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे यदि हम विभाजित करें तो अनुपात में उसके टुकड़ों के मूल्य में कमी न हो। जैसे १ तोले सोने का मूल्य यदि १००) है तो आधे तोले सोने का मूल्य ५०) ही होना चाहिए। उससे कम नहीं होना चाहिए।

(५) मूल्य में स्थिरता—द्रव्य-पदार्थ के मूल्य में स्थिरता होनी चाहिए। विनिमय के सब पदार्थों का मूल्य द्रव्य में आँका जाता है। यदि द्रव्ये-पदार्थ में स्थिरता न होगी तो विनिमय के पदार्थों के मूल्य में कमी-वेशी होती रहेगी।

(६) ढाले जाने का गुण—द्रव्य-पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे हम गलाकर मुद्रा के रूप में ढाल सकें।

(७) समानता—द्रव्य-पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके प्रत्येक भाग में एक ही प्रकार की विशेषता अथवा गुण हो।

(८) उपयोगिता—द्रव्य-पदार्थ में मुद्रा के अतिरिक्त उपयोगिता भी होनी चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताएँ धातुओं में, विशेषकर सोने और चाँदी में पाई जाती हैं; इसी लिए इन्हें श्रेष्ठ द्रव्य-पदार्थ माना गया है।

द्रव्य की परिभाषा

हम यह बतला चुके हैं कि सोने तथा चाँदी में कुछ विशेष गुण हैं जिनके कारण उन्हें द्रव्य माना जाने लगा है। लेकिन कागजी नोटों में वे विशेषताएँ बिलकुल नहीं हैं, जो सोने-चाँदी में पाई जाती हैं। तिस पर भी हम लोग कागजी नोटों का द्रव्य के रूप में प्रयोग करते ही हैं। इसका कारण यह है कि देश की सरकार द्वारा उनकी मान्यता और स्वीकृति रहती है। इसी कारण विना किसी रोक-टोक के कागजी नोटों का चलन रहता है तथा सौदे के लेन-देन और ऋण के भुगतान में वे ग्रहण किये जाते हैं। इसलिए हम द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—"कोई ऐसा पदार्थ जो विनिमय के माध्यम का काम स्वतन्त्रता-पूर्वक करता है और विना किसी हिचक के, ऋण के भुगतान में ग्रहण या स्वीकार किया जाता है, द्रव्य कहलाता है।"

द्रव्य सब पदार्थों के विनिमय का वह माध्यम है जो कानून के अनुसार ग्राह्य होता है और लेन-देन में बिना किसी रोक-टोक के स्वीकार किया जाता है। इस परिभाषा के अनुसार द्रव्य विनिमय का माध्यम होता है; अर्थात् इसके द्वारा हम सब प्रकार का विनिमय करते हैं। हम किसी दूकानदार से कुछ सामान खरीदते हैं। उसके मूल्य के बदले में यदि हम उसके नाम चेक लिख देते हैं, तो दूकानदार चेक लेने से इनकार कर सकता है; क्योंकि कानून के अनुसार चेक ग्राह्य नहीं है। परन्तु यदि हम उसे रुपया (सिक्का

या नोट) देते हैं तो वह उसे लेने से इनकार नहीं कर सकता, क्योंकि दूकानदार को कानून द्वारा सिक्का या नोट स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

द्रव्य के कार्य

द्रव्य के मुख्य चार कार्य होते हैं—

(१) विनिमय का साधन। (Medium of Exchange)

(२) मूल्यांकन का साधन। (Standard of Valuation)

(३) धन एकत्र करने का साधन। (Store of wealth)

(४) भावी भुगतान का साधन। (ऋण या देन चुकाने का साधन) (Standard of deferred payment)

(१) विनिमय का साधन—हम पहले बतला चुके हैं कि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों के कारण ही द्रव्य का प्रादुर्भाव हुआ था। द्रव्य का चलन होने से वस्तु-विनिमय की सब कठिनाइयाँ दूर हो गईं। अब द्रव्य के द्वारा हम सुगमता-पूर्वक हर वस्तु का विनिमय कर सकते हैं।

(२) मूल्यांकन का साधन—वस्तु-विनिमय में मूल्यांकन करते समय अधिक कठिनाई होती थी। वस्तुओं का आपेक्षिक मूल्य निर्धारित करने में और भी अधिक कठिनाई होती थी; और एक प्रकार से यह तुलनात्मक मूल्य-सूची अपूर्ण रहती थी। द्रव्य के आविष्कार से यह कठिनाई दूर हो गई है। इसके द्वारा समस्त वस्तुओं का मूल्य द्रव्य में निश्चित किया जाता है।

(३) धन एकत्र करने का साधन—द्रव्य-पदार्थ में मूल्य सम्बन्धी उतार-चढ़ाव बहुत कम होता है। द्रव्य-पदार्थ को छोड़कर अन्य वस्तुओं का संचय करने पर उनके मूल्य में कमी या अधिकता होने का भय लगा रहता है। परन्तु द्रव्य-पदार्थ में यह बात नहीं होती।

दूसरी बात यह है कि द्रव्य-पदार्थ को अन्य पदार्थों की अपेक्षा चिर-काल तक संचित करके रखा जा सकता है; क्योंकि इसका संचय करने में नष्ट होने का भय नहीं रहता। अन्य पदार्थ कुछ ही दिनों में नष्ट हो जाते हैं; जैसे गेहूँ, रूई आदि। गेहूँ को घुन तथा रूई को कीड़े लग जाते हैं। साथ ही थोड़े स्थान में अधिक मूल्य का द्रव्य-पदार्थ संचित किया जा सकता है। अन्य पदार्थ संचित करने में अधिक स्थान की आवश्यकता होती है।

(४) ऋण के भुगतान का साधन—ऋण के लेन-देन में द्रव्य द्वारा महाजन तथा कर्जदार को अधिक घाटा नहीं होता। उदाहरण के लिए, बीज बोते समय बीज का दाम महँगा होता है। फसल कटने के बाद उसका मूल्य कम हो जाता है। एक किसान जितना बीज ऋण के रूप में महाजन से लेता है, यदि उतना ही महाजन को फसल कटने के बाद दे तो महाजन को घाटा होगा, क्योंकि बोने के समय बीज महँगा बिकता है और फसल कट जाने के बाद (पूर्त्ति बढ़ जाने से) वह सस्ता हो जाता है। इस घाटे से बचने के लिए वस्तुओं की उधार बिक्री का मूल्य द्रव्य में आँक लिया जाता है। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा द्रव्य के मूल्य में उतार-चढ़ाव कम होता है।

द्रव्य के प्रकार

द्रव्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

(१) धातु मुद्रा और (२) कागजी मुद्रा।

(१) धातु मुद्रा—धातु मुद्रा उस मुद्रा को कहते हैं जो किसी धातु की बनी हो। जैसे सोने, चाँदी, निकल या ताँबे की बनी मुद्राएँ (मोहरें, रुपए, दुअन्नी, पैसे आदि)।

(२) कागजी मुद्रा—सरकार की आज्ञा के अनुसार अथवा सरकार

की ओर से केन्द्रीय बैंक द्वारा जो नोट चलाये जाते हैं, उन्हें कागजी मुद्रा कहते हैं।

धातु-मुद्रा के दो प्रकार

धातु-मुद्रा के भी दो प्रकार होते हैं—

(१) प्रामाणिक सिक्का और (२) सांकेतिक सिक्का।

(१) प्रामाणिक सिक्का—उस सिक्के को प्रामाणिक सिक्का कहते हैं जिसके आन्तरिक और वाह्य मूल्य में कुछ अन्तर नहीं होता। जितना मूल्य इन सिक्कों पर अंकित रहता है, उतना ही मूल्य उन सिक्कों को धातु के रूप में गलाकर वेचने से प्राप्त होता है। प्रामाणिक सिक्के के लिए टकसाल सबके लिए खुली रहती है। जो लोग चाहें, वे धातु देकर टकसाल से सिक्के ढलवा सकते हैं। ऐसे सिक्के अपरिमित मात्रा में ग्राह्य होते हैं।

(२) सांकेतिक मुद्रा—वह सिक्का जिसका वाह्य मूल्य उसके आन्तरिक मूल्य से कहीं अधिक होता है, सांकेतिक मुद्रा कहलाता है। ऐसे सिक्कों के लिए टकसाल जनता के लिए खुली नहीं रहती। सांकेतिक मुद्रा ढालने का अधिकार केन्द्रीय बैंक या सरकार को ही होता है। ऐसी मुद्राएँ परिमित रूप में ग्राह्य होती हैं।

कागजी मुद्रा के दो प्रकार

कागजी मुद्रा भी दो प्रकार की होती है—

(१) परिवर्त्तनशील पत्र-मुद्रा और (२) अपरिवर्त्तनशील पत्र-मुद्र।

(१) परिवर्त्तनशील पत्र-मुद्रा—वह पत्र-मुद्रा है जिसे सिक्कों में वदलने का आश्वासन केन्द्रीय बैंक या सरकार द्वारा जनता को मिला होता है।

(२) अपरिवर्त्तनशील पत्र-मुद्रा—यह वह पत्र-मुद्रा है जिसको सिक्कों में बदलने का न तो आश्वासन सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा दिया गया होता है और न उपर्युक्त संस्थाएँ इसे सिक्कों में बदलने के लिए तैयार होती हैं। अपरिवर्तनशील मुद्रा केवल सरकार के दबाव तथा आज्ञा के कारण ही चलती है। हमारे देश में गत महायुद्ध के बाद से एक रुपयेवाले जो नोट चलाये गये हैं, वे इसी प्रकार की मुद्राएँ हैं। इन्हें सिक्कों में बदलने के लिए सरकार बाध्य नहीं है।

कागजी मुद्रा से लाभ

कागजी मुद्रा से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। कागजी मुद्रा हलकी होने के कारण सुगमता-पूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा सकते हैं। इसे प्रकाशित करने में धातु-मुद्रा की अपेक्षा बहुत कम खर्च पड़ता है। धातु-मुद्रा चलन में रहते रहते घिस जाती है; पर कागजी नोटों में यह बात नहीं होती। धातु-मुद्रा को आवश्यकतानुसार बढ़ा नहीं सकते; लेकिन कागजी मुद्रा को आवश्यकतानुसार बढ़ा सकते हैं। युद्ध-काल, आर्थिक संकट तथा राष्ट्रीय संकट के समय प्रायः अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्राएँ खूब चलाई जाती हैं। अनेक देशों में धातु-मुद्रा का चलन अब बहुत कम हो गया है। अनेक बड़े और सभ्य देशों में तो प्रायः उसका चलन उठ-सा गया है।

बैंक

आधुनिक आर्थिक युग में कृषि, उद्योग, व्यापार आदि अनेक कार्य उधार तथा साख की सहायता से होते हैं। उत्पत्ति करनेवाले कृषक व्यापारी से रुपया उधार लेकर अपने उद्योग-धन्धों में लगाते हैं। रुपया बचानेवाले भी सूद कमाने के अभिप्राय से रुपया कर्ज

देते हैं। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों का आपस में सम्पर्क होना आवश्यक है। बैंक वह संस्था है जो उधार लेन-देन का काम करती है। इनको साख-संस्थाएँ भी कहते हैं। बैंक कम सूद पर रुपया अपने पास जमा करते हैं और व्यापारियों तथा अन्य व्यक्तियों को अधिक सूद पर कर्ज देते हैं।

बैंकिंग व्यवस्था का महत्व—वर्तमान समय में हम लोगों के आर्थिक जीवन की उन्नति बहुत कुछ बैंक व्यवस्था पर निर्भर करती है। साख-पत्रों (चेक, हुंडी आदि) तथा उत्तम प्रकार की बैंक-व्यवस्था से व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है। पूँजी एकत्र करने में बैंकों को बहुत सफलता मिलती है। प्रत्येक देश में औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति के लिए बैंकिंग-व्यवस्था की उन्नति अनिवार्य है।

बैंक की परिभाषा

बैंक की परिभाषा उनके कार्यों के आधार पर की जाती है। बैंक अनेक प्रकार के होते हैं तथा भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। परन्तु इनका मुख्य कार्य द्रव्य उधार लेना और उधार देना ही होता है। उधार लेन-देन का कार्य साख-पत्रों द्वारा होता है, इसलिए बैंक की परिभाषा हम यों कर सकते हैं—

"बैंक वह व्यक्ति या संस्था है जो द्रव्य के लेन-देन का कार्य करते है"। बैंक दूसरों का द्रव्य अपने यहाँ जमा करता है; और जिन लोगों को आवश्यकता होती है, व्याज लेकर उन्हें कर्ज देता है।

बैंक के कार्य

जैसा ऊपर की परिभाषा में बताया गया है, बैंक का मुख्य कार्य द्रव्य बचानेवालों से कम व्याज पर जमा प्राप्त करना तथा

उससे अधिक ब्याज पर दूसरों को कर्ज देना होता है। इस प्रकार ब्याज की दोनों दरों में जो अन्तर होता है, वही बैंक का लाभ होता है। बैंकिंग भी एक प्रकार का व्यवसाय ही है।

जमा प्राप्त करना

बैंक में द्रव्य जमा करने के लिए तीन प्रकार के खाते होते हैं--(१) चालू खाता, (२) सेविंग्स बंक खाता और (३) निश्चित समय का या मुद्दती खाता।

(१) चलता या चालू खाता (Current Account)—चलते खाते में जमा करनेवालों को यह अधिकार रहता है कि वे जिस समय चाहें, बंक से अपना जमा किया हुआ द्रव्य या उसका कुछ अंश वापस ले लें। साधारणतः इस खाते में जमा की हुई रकम पर ब्याज नहीं मिलता। यदि कोई बहुत बड़ी रकम कुछ समय तक बंक के इस खाते में जमा रहती है, तो उसपर बंक कुछ ब्याज दे देता है।

(२) सेविंग्स बंक खाता—इस खाते में जमा करनेवालों के लिए यह शर्त्त लगी रहती है कि वे सप्ताह में केवल एक या दो बार रुपया निकाल सकते हैं और वह भी पाँच सौ रुपये से अधिक नहीं। बंक ऐसी जमा पर कुछ ब्याज भी देता है। इस खाते से द्रव्य बचाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, इसी से इसका यह नाम रखा गया है।

(३) निश्चित समय का जमा खाता (Fixed Deposit Account) इस खाते में रुपया एक निश्चित समय या मुद्दत के लिए जमा किया जाता है। उस निश्चित समय के व्यतीत होने पर ही इस खाते का रुपया वापस मिल सकता है, उस अवधि के पहले नहीं। इस प्रकार के खाते में ब्याज की दर दूसरे खातों की ब्याज की दर से कुछ

अधिक रहती है। जमा करनेवाला यदि चाहे तो वही रुपया फिर कुछ समय के लिए जमा कर सकता है।

उधार देना

१. उद्योग पतियों तथा व्यवसायियों को उधार देना—हम बता चुके हैं कि बैंक कम ब्याज दर पर अपने यहाँ जमा करता है और उससे अधिक ब्याज पर कर्ज देता है। वर्तमान समय में उद्योग-धन्धों, व्यापार तथा बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लिए अधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है। उद्योग-पति, मिल मालिक तथा व्यवसायी लोग बैंक से ऋण माँगने आते हैं। बैंक इन लोगों को ऋण देता है। वह जिस दर पर अपने यहाँ जमा करता है, उससे कुछ अधिक दर पर ऋण देता है। इस प्रकार बैंकों को लाभ तो होता ही है; उनके द्वारा पूँजी की जो पूर्त्ति होती है, उससे देश का उत्पादन बढ़ता है। इसके द्वारा बेकारी की समस्या भी हल होती है।

२. हुंडियों तथा बिलों का भुनाना—व्यापार सदा साख पर निर्भर करता है। सौदा खरीदनेवाला (दूकानदार आदि) सौदे का मूल्य, उद्योग-पतियों को, जिनसे वह माल खरीदता है, तुरन्त ही नहीं चुका देता, बल्कि दाम चुकता करने के लिए वह कुछ समय भी चाहता है। साधारणतः यह समय तीन महीने का होता है। इस बीच में वह माल बेचकर रुपया इकट्ठा कर लेता है। बैंक माल बेचनेवाले को माल का दाम (माल खरीदनेवाले के कहने पर, जिसको वह अच्छी तरह जानता है) दे देता है और अपना कमीशन ले लेता है। वह अपना कमीशन माल खरीदनेवाले से या माल बेचनेवाले से लेता है; तथा जितने दिनों तक माल खरीदनेवाला बैंक का ऋण नहीं चुकता, उतने दिनों का ब्याज भी बैंक उससे वसूल कर लेता है। खरीदनेवाले के नाम बेचनेवाला एक पत्र लिख देता है,

जिसे हुंडी या बिल ऑफ़ एक्सचेंज कहते हैं। बैंक उस हुंडी का भुगतान करता है, और हुंडी में लिखा हुआ समय बीत जाने पर माल खरीदनेवाले से अपना रुपया वसूल कर लेता है।

बैंक के अन्य कार्य

उधार देने तथा लेने के अतिरिक्त बैंक कुछ और कार्य भी करते हैं। जैसे—

१. नोट छापना—प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होता है जिसके जिम्मे नोट छापने तथा मुद्रा का नियन्त्रण करने का काम होता है। हमारे देश में यह काम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया करता है।

२. विदेशी विनिमय का लेन-देन—आज-कल एक देश की निर्मित वस्तुएँ दूसरे देशों में उपभोग के लिए जाती हैं। निर्माता, उपभोक्ता से रुपया एक्सचेंज बैंक (Exchange Bank) के द्वारा वसूल करता है।

३. एजेन्सी का काम—बैंक अपने ग्राहकों या व्यापारियों के लिए एजेन्ट का भी काम करते हैं। चन्दे और बीमे की किस्तों की अदायगी करना, शेयर खरीदना इत्यादि कार्य भी बैंक अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए करते हैं।

भारत में बैंक-व्यवस्था

हमारे देश में बैंक व्यवस्था प्राचीन काल से ही चली आ रही है, जिसे महाजनी कोठी कहते हैं। इसके अतिरिक्त आज-कल पश्चात्य ढंग की बैंक-व्यवस्था का भी प्रचार हमारे यहाँ हो गया है। अपने यहाँ की बैंक-व्यवस्था का वर्गीकरण हम इस तरह कर सकते हैं—(१) महाजनी कोठी या देशी बैंक (जिसके अन्तर्गत देशी साहूकारों, महाजनों और सराफों के कार-बार आते हैं) तथा (२) पाश्चात्य ढंग के नवीन बैंक।

(१) देशी बैंक—ऐसे बैंक हमारे देश के सब गाँवों में पाये जाते हैं। ऐसी बैंकिंग करनेवाले बनिये, महाजन, सराफ, आगा या काबुली, साहु, चेटी आदि होते हैं। ये लोग उत्पत्ति और उपभोग दोनों प्रकार के कार्यों के लिए रुपए कर्ज देते हैं। ये लोग प्रायः चक्र-वृद्धि ब्याज दर पर कर्ज देते हैं तथा कभी-कभी इनके ब्याज की दर ४००% तक पहुँच जाती है।

महाजनी-पेशे के साथ-साथ ये लोग अन्य पेशे (जैसे दूकानदारी, खेती आदि) भी करते हैं। प्रायः ये लोग दूसरों का धन अपने यहाँ जमा नहीं करते, बल्कि अपनी निजी पूँजी ही कर्ज देते हैं। ये लोग प्रायः व्यक्तिगत जमानत के आधार पर ही कर्ज दे देते हैं। व्यक्तिगत जमानत पर आज-कल के बैंकों से जल्दी कर्ज नहीं मिल सकता।

(२) पाश्चात्य ढंग के बैंक अथवा आधुनिक बैंकिंग संस्थाएँ—इनके अन्तर्गत नीचे लिखे बैंक होते हैं—

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया,
(२) इम्पीरियल बैंक,
(३) कमर्शियल बैंक,
(४) औद्योगिक बैंक,
(५) एक्सचेंज बैंक,
(६) भूमि-बन्धक बैंक,
(७) सहकारी बैंक और
(८) डाक खाने या पोस्ट आफिस के सेविंग्स बैंक।

देश का सबसे बड़ा बैंक रिजर्व बैंक है जो सरकारी है। देश में नोट चलाना, मुद्रा का प्रसार अथवा संकुचन करना तथा अन्य प्रकार के कार्य करना इसी का काम है। देश की आर्थिक उन्नति इसी बैंक की नीति पर निर्भर करती है। यह बैंक स्वयं लाभ कमाने

के लिए नहीं स्थापित किया गया है, बल्कि देश के अन्य बंकों को संकट के समय सहायता देने तथा देश के उद्योग-धन्धों, व्यापार, कृषि आदि की उन्नति के लिए ही यह स्थापित किया गया है। हमारे देश में जब रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं हुई थी, तब इम्पीरियल बैंक ही रिजर्व बैंक के सब कार्य (नोट छापने का काम छोड़कर बाकी सब काम) करता था। अब भी जिन शहरों में रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है, वहाँ इम्पीरियल बैंक ही रिजर्व बैंक के बाकी सब काम करता है।

और प्रकार के सब बैंक व्यापार, उद्योग-धन्धे, विदेशी विनिमय, भूमि की उन्नति, कृषि की उन्नति आदि के लिए स्थापित किये गये हैं; और जैसा उनका नाम है, उसी प्रकार के कार्य वे करते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—उत्तम द्रव्य-पदार्थ में क्या-क्या विशेषताएँ होनी चाहिएँ ?

उत्तर—उत्तम द्रव्य-पदार्थ में नीचे लिखी विशेषताएँ होनी चाहिएँ—

(१) सहज में पहचाने जाने का गुण,

(२) वहनीयता,

(३) अक्षय-शीलता,

(४) विभाजकता,

(५) ढाले जाने का गुण या योग्यता,

(६) मूल्य-स्थिरता,

(७) समानता और

(८) उपयोगिता।

इन सब का विशेष वर्णन ऊपर के प्रकरण में किया जा चुका है।

२—द्रव्य के क्या कार्य होते हैं ?

उत्तर—द्रव्य के मुख्य कार्य चार हैं—

(१) विनिमय का माध्यम,

(२) मूल्य का माप करना,

(३) भावी भुगतान और

(४) धन-संचय का साधन।

३—कागजी द्रव्य से क्या लाभ होते हैं ?

उत्तर—ये लाभ ऊपर बतलाये जा चुके हैं।

४—कागजी मुद्रा के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—कागजी मुद्रा दो प्रकार की होती है—(१) सिक्कों में बदली जानेवाली और (२) सिक्कों में न बदली जानेवाली।

सरकार जिन कागजी मुद्राओं को धातु-मुद्रा में बदलने का वादा करती है, उन्हें सिक्कों में बदली जानेवाली कागजी मुद्रा कहते हैं। जैसे हमारे देश में १० रुपए या १०० रुपएवाले नोट हैं।

जिन कागजी मुद्राओं को धातु-मुद्रा में परिवर्तन करने का सरकार आश्वासन नहीं देती, उन्हें मुद्रा में न बदली जानेवाली कागजी मुद्रा कहते हैं; जैसे हमारे देश में १ रुपएवाले नोट धातु-मुद्रा में न बदली जानेवाली कागजी-मुदा हैं।

५—निम्न-लिखित विषयों पर नोट लिखिए।

(क) कानून द्वारा ग्राह्य, (ख) सांकेतिक मुद्रा और (ग) प्रामाणिक मुद्रा

उत्तर—(क) कानून द्वारा ग्राह्य—उस द्रव्य को कानून द्वारा ग्राह्य द्रव्य कहते हैं, जिसका प्रयोग विनिमय में किया जाता है और जिसको स्वीकार करने के लिए विधान सब लोगों को बाध्य करता है। आधुनिक काल में द्रव्य और चेक दोनों का प्रयोग भुगतान करने

में किया जाता है। परन्तु चेक का स्वीकार करना या न करना लेनेवाले की इच्छा पर निर्भर है। यदि कोई चाहे तो वह किसी का चेक लेने से इनकार भी कर सकता है। परन्तु कानून द्वारा ग्राह्य द्रव्य लेने से इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह विधान द्वारा प्रचलित रहता है। उदाहरण के लिए, हमारे देश में १ रुपए का सिक्का अथवा १ रुपए का नोट हम लोग लेन-देन के भुगतान में काम में लाते हैं और इसे लेने के लिए विधान हमें वाध्य करता है। यदि कोई मनुष्य १) का नोट लेने से इनकार करता है, तो विधान द्वारा वह दंड पाने का भागी हो सकता है।

(ख) सांकेतिक मुद्रा—वह मुद्रा है जिसका वाह्य मूल्य उसके आन्तरिक मूल्य से अधिक रहता है। एक सिक्के के द्वारा जितनी वस्तुएँ हम खरीदते हैं, वह उसका वाह्य मूल्य कहलाता है। इस सिक्के को गला देने के वाद मिलनेवाली गली हुई धातु से जितनी वस्तुएँ हम प्राप्त करते हैं, वही उसका आन्तरिक मूल्य होता है। उदाहरण के लिए, १ रुपए से हमें वाजार में १० कापियाँ मिलती हैं। पर एक रुपएवाले सिक्के को गलाने से जो धातु प्राप्त होती है, उसके बदले में हमें तीन ही कापियाँ मिलती हैं। ऐसा सिक्का 'सांकेतिक मुद्रा' कहा जायगा, क्योंकि इसके आन्तरिक और वाह्य मूल्य में अन्तर होता है। हमारे देश में कानून-ग्राह्य सभी मुद्राएँ (सिक्के तथा नोट) सांकेतिक मुद्राएँ हैं।

(ग) प्रामाणिक मुद्रा—जिस मुद्रा का आन्तरिक और वाह्य मूल्य वरावर रहता है, उसे प्रामाणिक मुद्रा कहते हैं। हमारे देश में प्रामाणिक मुद्रा कोई नहीं है। रुपया तथा नोट सांकेतिक मुद्राएँ हैं, लेकिन वही प्रामाणिक सिक्के का काम देते हैं।

६—बैंकों के मुख्य कार्य क्या हैं ?

उत्तर—पुस्तक में बतलाये गये हैं।

७—देशी बैंकों के क्या गुण तथा दोष हैं ?

उत्तर—देशी बैंकों का गाँवों में होना अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। गाँवों में इन्हीं महाजनों और साहूकारों से गाँववालों की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं।

इन बैंकों में यह दोष है कि ये व्याज की दर बहुत अधिक रखते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी व्याज की दर ४००% तक पहुँच जाती है। ये बैंक केवल उपभोग के लिए ऋण देते हैं। यदि इन बैंकों के ये दोष दूर किये जा सकें तो वास्तव में ये गाँवों में बहुत लाभदायक हो जायँ। गाँवों में कर्ज के लेन-देन का कार्य यही बैंक करते हैं।

१५

वितरण

हम पहले ही बतला चुके हैं कि उत्पत्ति में, चाहे वह छोटे पैमाने पर हो या बड़े पैमाने पर, भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्था तथा साहस नामक पाँच साधनों की आवश्यकता होती है। छोटे पैमाने की उत्पत्ति में इन सब साधनों की पूर्त्ति एक ही व्यक्ति कर सकता है; परन्तु बड़े पैमाने की उत्पत्ति में इनकी पूर्त्ति भिन्न-भिन्न स्रोतों से होती है। जैसे किसी मिल द्वारा वस्तुओं का निर्माण करने की दशा में कच्चा माल अन्य स्थानों से खरीदकर लाया जाता है; श्रमी को दैनिक या मासिक वेतन पर नियुक्त किया जाता है; पूँजी बैंकों से ब्याज पर उधार ली जाती या शेयर बेचकर इकट्ठी की जाती है; संगठन-कर्त्ता नियुक्त किया जाता है आदि। इन सब साधनों को पुरस्कार देने के बाद जो कुछ शेष बचता है, वही साहसी का लाभ होता है। यदि कुछ शेष नहीं बचता तो साहसी को घाटा होता है। प्रत्येक साधन को अलग-अलग पुरस्कार देना पड़ता है। परन्तु पुरस्कार का ठीक बँटवारा भी एक बड़ी समस्या है। वितरण में इसी समस्या से सम्बन्ध रखनेवाली भिन्न-भिन्न बातों और नियमों का विचार किया जाता है।

वितरण का अर्थ

वितरण का साधारण अर्थ होता है—बाँटना। परन्तु अर्थ-शास्त्र में इसका कुछ विशेष अर्थ होता है। हम यह तो बतला ही चुके हैं

कि आर्थिक क्षेत्र में उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों के द्वारा वस्तुओं का निर्माण होता है। उस निर्माण से जो प्राप्ति होती है, वही हम उन साधनों में बाँटते हैं, और इसी को हम 'वितरण' कहते हैं। उत्पत्ति में भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध तथा साहस का सहयोग होता है। इन्हीं के सहयोग से धन की उत्पत्ति होती है। यही धन हम उक्त साधनों में विभाजित करते हैं। यही वितरण है।

राष्ट्रीय धन

हम लोग किसी देश की उत्पत्ति के समस्त साधनों द्वारा एक निश्चित समय में उत्पन्न की हुई वस्तु का बँटवारा करते हैं। सम्पूर्ण देश की उत्पत्ति को राष्ट्रीय सम्पत्ति कहते हैं। साधारणतः राष्ट्रीय सम्पत्ति का अनुमान लगाने में एक वर्ष का समय लिया जाता है। किसी देश में एक वर्ष में श्रम, पूँजी और भूमि की सहायता से जो कुछ उत्पन्न होता है, उसमें से कच्चे माल का दाम, सरकार का टैक्स, तैयारी की लागत और मशीन की घिसाई आदि निकाल देने के बाद जो कुछ शेष बचता है, वही राष्ट्रीय सम्पत्ति या धन् कहलाता है। मान लीजिए कि हमारे देश में गत वर्ष १००० करोड़ रुपयों की सामूहिक उत्पत्ति हुई। उसमें से कच्चे माल का दाम, सरकारी कर, बीमे, मशीन की घिसाई आदि का खर्च २५० करोड़ रुपए हुआ, तो १०००–२५० करोड़ = ७५० करोड़ शेष रहा। अब यही ७५० करोड़ रुपया राष्ट्रीय धन या सम्पत्ति होगा।

वितरण किनमें किया जाता है

उत्पत्ति के जितने साधन होते हैं, वितरण के उतने ही भागी भी होते हैं। यह बात इस प्रकार समझी जा सकती है—

उत्पत्ति के साधन

१–भूमि	२–श्रम	३–पूँजी	४–प्रबन्ध	५–साहस
लगान	मजदूरी	सूद	वेतन	लाभ या हानि
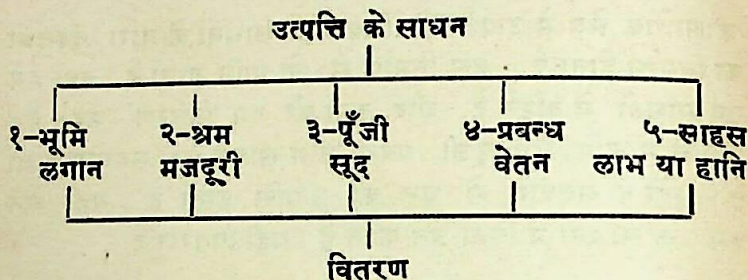
वितरण

वितरण का सिद्धान्त

यही बात हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार बतला सकते हैं कि उत्पत्ति के साधनों द्वारा जो कुछ उत्पन्न होता है, उसमें कितना भाग भूमि के प्रयोग के लिए लगान के रूप में, कितना भाग मजदूरी के रूप में, कितना पूँजी के लिए सूद के रूप में, कितना किराये, वेतन आदि के रूप में, और कितना साहसी को लाभ के रूप में मिलना चाहिए। इन सब में उचित बँटवारा न होने के कारण ही हम प्रति दिन अखबारों में पढ़ते और सुनते रहते हैं कि आज अमुक स्थान पर मजदूरों ने हड़ताल कर दी, आज अमुक मिल बन्द हो गई, आज मिल-मालिकों और मजदूरों में समझौता कराने के लिए मध्यस्थ नियुक्त किये गये, आदि।

वितरण में सीमान्त-उत्पादक-नियम लगाया जाता है। इस नियम का आशय यह है कि किसी साधन की अन्तिम इकाई द्वारा जितनी उत्पत्ति होती है, उसी के आधार पर उस साधन को बाकी दूसरी इकाइयों को पुरस्कार दिया जाता है। जिस प्रकार माँग और पूर्त्ति के आधार पर बाजार-मूल्य निर्धारित होता है, उसी प्रकार उत्पत्ति के सब साधनों का पुरस्कार (मूल्य) माँग और पूर्त्ति के

आधार पर निश्चित होता है। इसी को अर्थ-शास्त्र में 'सीमान्त-उत्पादक-नियम' कहते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—वितरण का क्या अर्थ है?
२—राष्ट्रीय धन किसे कहते हैं?
३—वितरण का सिद्धान्त क्या है?
४—किन-किन साधनों में वितरण किया जाता है?
उत्तर—चारों प्रश्नों के उत्तर ऊपर के प्रकरण में मिलेंगे।

१६

लगान

लगान का अर्थ

धन की उत्पत्ति में भूमि अनिवार्य साधन है। भूमि की सहायता के विना धन की उत्पत्ति नहीं हो सकती। भूमि के उपयोग के लिए उसके मालिक को जो पुरस्कार दिया जाता है, वही लगान कहलाता है। उदाहरण के लिए, एक काश्तकार एक जमींदार से भूमि किराये पर लेकर खेती करता है और यह वादा करता है कि वर्ष के अन्त में हम आपको ५०) भूमि के उपयोग के बदले में देंगे। यही ५०) उस भूमि का लगान कहा जायगा। लेकिन यह लगान वास्तविक या आर्थिक लगान नहीं है, बल्कि इसे ठीके का लगान कहा जायगा। आर्थिक लगान और ठीके के लगान में अन्तर है। पहले इन दोनों का वही अन्तर समझ लेना चाहिए।

लगान के भेद

लगान दो प्रकार का होता है—

१—ठीके का लगान। और

२—आर्थिक लगान।

(१) ठीके का लगान—भूमि के स्वामी और उसके उपयोग-कर्ता में माँग और पूर्त्ति के द्वारा (या विचार से) जो लगान निश्चित होता है, उसे ठीके का लगान कहते हैं। उदाहरण के लिए, जैसा ऊपर बतलाया गया है, काश्तकार जब जमींदार से खेती करने के लिए भूमि लगान पर लेता है, तब माँग और पूर्त्ति के विचार से लगान

निश्चित होता है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्त्ति के द्वारा (या विचार से) निश्चित होता है, उसी प्रकार भूमि के उपयोग का भी मूल्य उसकी माँग तथा पूर्त्ति के विचार से ही होता है।

ठीके के लगान के संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। यह लगान केवल भूमि की ऊपरी सतह या उर्वरा शक्ति के लिए ही नहीं दिया जाता, बल्कि उस पूँजी का व्याज भी इस लगान में सम्मिलित होता है, जो खेत की उन्नति के लिए लगाई जाती है; जैसे कूएँ बनवाने में लगी हुई पूँजी आदि। ठीके के लगान में आर्थिक लगान के अतिरिक्त लगी हुई पूँजी का व्याज भी सम्मिलित रहता है।

(२) आर्थिक लगान—वह लगान जो केवल भूमि के उपयोग के लिए दिया जाता है, आर्थिक लगान कहलाता है। इस लगान में भूमि पर लगी हुई पूँजी का व्याज सम्मिलित नहीं होता। आर्थिक लगान से प्रोफेसर रिकार्डो (Ricardo) का नाम सम्बद्ध है। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त निकाला था, जिसे रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त कहते हैं।

रिकार्डो का सिद्धान्त

रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लगान अच्छी भूमि (उपजाऊ भूमि) तथा सबसे कम उपजाऊ भूमि की पैदावार के अन्तर को कहते हैं। उदाहरण के लिए, क, ख और ग समान नाप या लम्बाई-चौड़ाई वाले, भूमि के तीन टुकड़े हैं; और इन टुकड़ों पर पूँजी तथा श्रम की समान इकाइयाँ लगाई गई हैं। इन टुकड़ों की उर्वरा शक्ति में अन्तर होने के कारण इनकी उपज या पैदावार में भी अन्तर होगा। 'क' भूमि सबसे अधिक उपजाऊ है; इस कारण इसकी पैदावार 'ख' तथा 'ग' टुकड़ों की पैदावार की अपेक्षा अधिक

है। यदि 'क' भूमि की पैदावार १५ मन, 'ख' की १२ मन और 'ग' की ५ मन हो तो 'क' का आर्थिक लगान १५ मन—५ मन = १० मन हुआ। 'ख' का आर्थिक लगान १२ मन—५ मन = ७ मन हुआ। 'ग' भूमि का लगान कुछ नहीं है। यह 'सीमान्त भूमि' है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा। इसके द्वारा या इसके विचार से भूमि के बाकी टुकड़ों का लगान निर्धारित किया जाता है।

सीमान्त भूमि (Marginal Land)

सीमान्त भूमि—वह भूमि है, जिसकी पैदावार का मूल्य उसपर लगी हुई लागत के बराबर ही होता है। ऐसी भूमि पर खेती करने से अधिक लाभ नहीं होता। सीमान्त भूमि पर आर्थिक लगान नहीं रहता, बल्कि उसके आधार पर भूमि के दूसरे टुकड़ों का लगान निर्धारित होता है। ऊपरवाले उदाहरण में भूमि का 'ग' टुकड़ा 'सीमान्त भूमि' कहा जायगा।

सारिणी के रूप में आर्थिक लगान का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है।

खेत का टुकड़ा	उपज (मनों में)	सीमान्त भूमि की उपज (मनों में)	आर्थिक लगान
क	१५	५	१५–५=१० मन
ख	१२	५	१२–५ = ७ मन
ग	५	५	बिना लगान की भूमि

'ग' भूमि बिना लगान की भूमि है। इसी की उपज के आधार पर 'क' तथा 'ख' भूमि-खंडों का लगान निर्धारित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि भूमि की उर्वरा शक्ति और उपज

जितनी ही अधिक होती है, उतना ही उसका आर्थिक लगान बढ़ता है।

रिकार्डो का आर्थिक लगानवाला सिद्धान्त समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस समय की कल्पना करें, जब देश में जन-संख्या बहुत कम थी तथा भूमि का स्वामी कोई जमींदार या सरकार न थी। सबको आवश्यकता से अधिक भूमि उपलब्ध थी। अपनी इच्छा के अनुसार जितनी भूमि पर लोग चाहते थे, खेती करते थे। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि अधिक उपजाऊ भूमि पर लोग खेती पहले करते। ज्यों-ज्यों जन-संख्या में वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों कम उपजवाली भूमि के टुकड़ों पर भी खेती होने लगी। अधिक उपजाऊ तथा कम उपजाऊ भूमि के टुकड़ों की उपज में उनकी उर्वरा शक्ति के कारण जो अन्तर हुआ, उसी अन्तर के कारण होनेवाली वृद्धि को रिकार्डो ने 'आर्थिक लगान' की संज्ञा दी है।

यदि कृषि का-क्रम ऐसा न भी हो, जैसा रिकार्डो ने बतलाया है अर्थात् कम उपजाऊ खेत पर पहले खेती की गई हो या की जाय, और अधिक उपजाऊ खेत पर उसके बाद खेती हुई हो या की जाय, तो भी रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लगान के सिद्धान्त में कोई अन्तर न पड़ेगा।

भारत में लगान

हमारे देश में लगान वसूल करने की दो प्रणालियाँ हैं—(१) रैयतवारी और (२) जमींदारी।

(१) रैयतवारी प्रथा—इस प्रथा के अनुसार किसान तथा सरकार के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं रहता। जितना लगान किसान देता है, वह सब सीधा सरकारी खजाने में जमा होता है। यह प्रथा बम्बई और मद्रास राज्यों में प्रचलित है।

(२) जमींदारी प्रथा—इस प्रथा के अनुसार किसान खेत का लगान अपने जमींदार को देते हैं। जमींदार वसूल किये हुए लगान का ४०-५० प्रति शत अपने पास रख लेते हैं और शेष सरकारी खजाने में जमा करते हैं। यह जमींदारी प्रथा अन्य प्रान्तों के अतिरिक्त हमारे प्रान्त अर्थात् उत्तर प्रदेश में भी प्रचलित है।

यह जमींदारी प्रथा मुगल बादशाहों के समय से चली आ रही थी। इस प्रथा में अनेक दोष थे। इस कारण कांग्रेस सरकार ने अब इसका अन्त कर दिया है। इस प्रथा के उठ जाने से किसानों का खेतों से बे-दखल होने का भय जाता रहा और वे जमींदारों की हरी-बेगारी से भी मुक्त हो गये।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—आर्थिक लगान तथा ठीके के लगान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—आर्थिक लगान—उपजाऊ भूमि तथा सीमान्त भूमि की उपज के अन्तर को 'आर्थिक लगान' कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि भूमि के चार टुकड़ों पर खेती हो रही है, तो सबसे कम उपजाऊ भूमि की पैदावार से जितनी अधिक पैदावार भूमि के दूसरे टुकड़ों की होगी, वही उन टुकड़ों का 'आर्थिक लगान' होगी।

ठीके का लगान—वह लगान जो जमींदार और काश्तकार में माँग और पूर्त्ति के द्वारा निर्धारित होता है, ठीके का लगान कहलाता है।

२—आर्थिक लगान कैसे निर्धारित किया जाता है ?

उत्तर—पहले प्रश्न के उत्तर में ही इसका उत्तर भी आ चुका है।

३—रिकार्डो का आर्थिक लगानवाला सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर—रिकार्डो के अनुसार सीमान्त भूमि से जो उपज होती है,

उसकी तुलना में दूसरे अच्छे टुकड़ों में जो अधिक उपज होती है, उसी को आर्थिक लगान कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक ही नाप के खेत के तीन टुकड़े हों और तीनों टुकड़ों पर समान श्रम और पूँजी की इकाइयाँ लगाई गई हों, तो भी उन टुकड़ों की उर्वरा शक्ति में अन्तर होने के कारण उपज में भी अन्तर होगा। जिस भूमि के टुकड़े की उपज सबसे कम होगी, उसको 'सीमान्त भूमि' कहेंगे। सीमान्त भूमि की उपज से जितनी अधिक उपज भूमि के दूसरे टुकड़ों में होगी, वही अधिक उपज आर्थिक लगान कही जायगी। (उदाहरण ऊपर पुस्तक में दिया गया है।)

४—जमींदारी प्रथा का क्यों अन्त किया गया ?

उत्तर—जमींदारी प्रथा में अनेक दोष दिखलाई पड़ने लगे थे। जमींदार लोग जब चाहते थे, तब किसानों को भूमि से बे-दखल कर देते थे; और जब चाहते थे, तब लगान बढ़ा देते थे। इसके अतिरिक्त आये दिन वे खेतिहरों से हरी-बेगारी लेते थे। जमींदारों का यह कर्त्तव्य था कि वे कृषि की उन्नति के लिए गाँव में कृषि सम्बन्धी सुधार करते और जमीनों तथा काश्तकारों की दशा में भी सुधार करते। परन्तु अधिकतर जमींदारों ने अपने इस कर्तव्य का पालन नहीं किया; इसलिए कांग्रेस सरकार ने जमींदारी प्रथा का अन्त कर दिया।

१७

मजदूरी

(Wages)

मजदूरी का अर्थ

उत्पत्ति का दूसरा साधन श्रम है। श्रमी को श्रम के लिए जो पुरस्कार दिया जाता है, उसे मजदूरी कहते हैं। दूसरे शब्दों में, हम श्रम के मूल्य को ही मजदूरी कहते हैं। हम यह वतला चुके हैं कि मनुष्य का श्रम चाहे शारीरिक हो चाहे मानसिक, जिसके द्वारा धन उत्पन्न किया जाता है, वह 'श्रम' कहलाता है। इसी शारीरिक अथवा मानसिक श्रम के मूल्य को मजदूरी कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार कुली, खेत में काम करनेवाले किसान, वकील, मास्टर, डाक्टर, इन्जीनियर आदि सब श्रमी हैं, और उन सबकी आय मजदूरी कही जाती है।

जिस प्रकार अन्य वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है, उसी प्रकार श्रमी के श्रम का भी मूल्य निर्धारित होता है। लेकिन श्रम में वस्तुओं की अपेक्षा कुछ विशेषताएँ हैं, जिनके कारण श्रमी को वाजिब मजदूरी नहीं मिलने पाती।

श्रम की विशेषताएँ

(१) श्रम श्रमी में निहित रहता है; अर्थात् श्रम को श्रमी से अलग नहीं किया जा सकता। कोई वस्तु बेचनेवाले के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह स्वयं वस्तु के साथ-साथ विक्री के स्थान पर

जाय और वस्तु बेचता फिरे। हम यहाँ बैठे-बैठे कलकत्ते और बम्बई में अपना माल बेच सकते हैं। परन्तु श्रमी को अपना श्रम बेचने के लिए स्वयं चलकर कहीं जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए, गेहूँ की उत्पत्ति करनेवाले किसान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह स्वयं गेहूँ के साथ-साथ मण्डी में जाय और गेहूँ की बिक्री करे। लेकिन मजदूर को अपना श्रम बेचने के लिए अर्थात् काम या मजदूरी करने के लिए स्वयं चलकर जाना पड़ता है। श्रम वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम गति-शील है। उसकी गति-शीलता में बहुत-सी बाधाएँ और रुकावटें रहती हैं, जिनके कारण वह अपना स्थान छोड़-कर अच्छी मजदूरी मिलने पर भी जल्दी कहीं नहीं जा सकता।

(२) श्रमी केवल अपना श्रम बेचता है—अपने को नहीं बेचता। जब हम कोई वस्तु बेचते हैं, तो वह वस्तु दूसरे की हो जाती है। परन्तु श्रम के सम्बन्ध में यह बात नहीं होती। श्रमी केवल अपना श्रम बेचता है, अपने आपको नहीं बेचता। अपने श्रम का मालिक वह सदा स्वयं बना रहता है।

(३) अन्य वस्तुओं का यदि उचित मूल्य नहीं मिलता तो हम उन्हें इस आशा से संचित कर रखते हैं कि भाव तेज होने पर उनकी बिक्री की जायगी। परन्तु श्रम संचित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह नाशवान है। जिस दिन श्रमी श्रम नहीं कर सकता, अर्थात् बेकार रहता है, उस दिन का काम वह दूसरे दिन नहीं कर सकता। अपने आपको जीवित रखने के लिए तथा आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने के लिए श्रमी को धन की आवश्यकता होती है। इस विचार से श्रमी कम मजदूरी पर भी काम करने के लिए विवश हो जाता है। मज-दूरों को नियुक्त करनेवाले मालिक या पूँजीपति श्रमी की इस वि-वशता से पूरा-पूरा लाभ उठाकर उन्हें यथा-सम्भव कम मजदूरी देते हैं।

(४) जैसा ऊपर कहा गया है, यदि वस्तुओं का उचित मूल्य नहीं मिलता, तो लोग उन्हें न बेचकर संचित कर रखते हैं। लेकिन मजदूरी की दशा में यह बात नहीं होती। मजदूर को विवश होकर कम मजदूरी पर भी काम करना और श्रम बेचना पड़ता है।

मजदूरी निर्धारित करने का सिद्धान्त

श्रम का मूल्य भी वस्तुओं के मूल्य की ही तरह निर्धारित हुआ करता है। वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्त्ति के द्वारा या इनके आधार पर निर्धारित होता है। उसी तरह श्रम का मूल्य भी, जिसे मजदूरी कहते हैं, माँग और पूर्त्ति के द्वारा या सहायता से निश्चित किया जाता है।

श्रमियों की माँग—श्रमियों को नियुक्त करनेवाले मालिकों को वस्तुओं के उत्पादन के लिए श्रमियों की आवश्यकता होती है। एक श्रमी जितने मूल्य की वस्तुओं की उत्पत्ति करता है, वही उसकी उत्पादकता कही जाती है। मालिक श्रमी को उसकी उत्पादकता से अधिक मजदूरी कदापि न देगा। व्यावहारिक जीवन में मजदूरों को मजदूरी उनकी उत्पादकता से कम ही मिलती है। श्रमियों की पूर्त्ति उनके रहन-सहन के दरजे पर निर्भर करती है। इस प्रकार श्रमी की उत्पादकता तथा उनके रहन-सहन के दरजे के आधार पर मजदूरी निर्धारित की जाती है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगी।

मान लीजिए कि कपड़ा बनाने के किसी कारखाने में १५ कारीगर एक-सी योग्यता के नियुक्त किये गये हैं। कारीगरों की संख्या में क्रमशः वृद्धि की गई थी। १५वाँ कारीगर रखने के बाद कारखाने के मालिक ने मजदूरों की संख्या में और वृद्धि नहीं की; क्योंकि १६वें कारीगर को जितनी मजदूरी देनी होगी, वह उसकी उत्पादकता से

अधिक होगी। इसलिए वह सोलहवाँ मजदूर नियुक्त नहीं किया जाता; क्योंकि ऐसा करने में मालिक को हानि होगी। उत्पत्ति-ह्रास नियम के अनुसार सीमान्त इकाई की उत्पत्ति पहलेवाली इकाइयों की उत्पत्ति की अपेक्षा कम ही होगी; अर्थात् अन्तिम श्रमी की उत्पादकता पहलेवाले श्रमियों की उत्पादकता की अपेक्षा कम होगी। अब इसी अन्तिम श्रमी की मजदूरी के हिसाब से उस श्रेणी के सब श्रमियों को मजदूरी दी जायगी। इस १५वें श्रमी (अर्थात् जो अन्तिम श्रमी नियुक्त किया गया है) को सीमान्त श्रमी कहेंगे; और उसके द्वारा जो उत्पत्ति हुई होगी, उसे सीमान्त उत्पत्ति कहेंगे।

मान लीजिए कि अन्तिम श्रमी द्वारा ३) मूल्य की उत्पत्ति हुई है। इसके पहले जितने श्रमी काम पर लगाये गये थे, उनमें से प्रत्येक श्रमी की उत्पत्ति ३) मूल्य से अधिक थी; क्योंकि श्रमियों की संख्या में होनेवाली वृद्धि के साथ-साथ उत्पादकता में भी कमी होती गई है। अन्तिम श्रमी अर्थात् १५ वें श्रमी के कारण उत्पत्ति में केवल ३) की वृद्धि हुई है। अब यदि यह मान लिया जाय कि सब श्रमी एक ही श्रेणी के हैं, तो जितनी मजदूरी अन्तिम श्रमी को दी जायगी, वही या उसी दर से और सब श्रमियों को भी मजदूरी दी जायगी। अन्तिम श्रमी को मजदूरी ३) से अधिक कदापि नहीं दी जायगी (बल्कि व्यावहारिक जीवन में इससे भी कम मजदूरी दी जाती है); क्योंकि उसकी उत्पादकता केवल ३) थी। इसी को सीमान्त उत्पादकता का नियम कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सीमान्त इकाई द्वारा अर्थात् अन्तिम श्रमी द्वारा जितनी उत्पत्ति होती है, उसी के अनुसार उस श्रमी तथा उसकी श्रेणी के और सब श्रमियों को मजदूरी दी जाती है।

पूर्त्ति के दृष्टि-कोण से श्रमी अपने रहन-सहन के दरजे के अनुसार ही मजदूरी स्वीकार करता है। जितनी मजदूरी वह प्राप्त करता

है, उससे उसके रहन-सहन के दरजे का खर्च निकल आता है या नहीं? साधारणतः श्रमी अपने रहन-सहन के दरजे के खर्च से कम मजदूरी नहीं स्वीकार करता, क्योंकि ऐसा करने पर उसकी कार्य-क्षमता घटेगी। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सीमान्त उत्पादकता तथा रहन-सहन के दरजे की सीमाओं के बीच में ही कहीं मजदूरी निर्धारित होती है।

माँग और पूर्त्ति के अतिरिक्त मजदूरी निर्धारित करने पर रीति-रिवाज, विधान आदि का भी प्रभाव पड़ता है, जैसा कि हम गाँवों के मजदूरों की मजदूरी की दर से समझ सकते हैं। गाँवों में हज्जामों, धोबियों, हलवाहों आदि की मजदूरी रीति-रिवाज के आधार पर निर्धारित रहती है। परन्तु बड़े बड़े शहरों में विधान द्वारा मजदूरी निश्चित की जाती है। श्रमी को उससे कम मजदूरी नहीं दी जा सकती।

नकदी और असली मजदूरी

मजदूरी दो प्रकार की होती है—(१) नकदी मजदूरी और (२) असली मजदूरी।

(१) नकदी मजदूरी—श्रमी को मजदूरी जब रुपये-पैसे (द्रव्य के रूप) में दी जाती है, तब उसे नकदी मजदूरी कहते हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान समय में मिलों या कल-कारखानों में काम करनेवाले श्रमियों को मजदूरी वस्तुओं में नहीं, बल्कि रुपये-पैसे में दी जाती है।

(२) असली मजदूरी—द्रव्य के रूप में जो मजदूरी प्राप्त होती है, वह आवश्यकताओं की पूर्त्ति का एक साधन मात्र है। इसमें मुख्य ध्येय मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति का रहता है। नगद मजदूरी से जितनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है, वही

असली मजदूरी कही जाती है। उदाहरण के लिए, एक श्रमी १००) महीना कमाता है। इस १००) से जितनी वस्तुएँ वह खरीद सकता है या जितनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सकता है, वही उसकी असली मजदूरी कही जायगी।

बड़े बड़े शहरों में नकदी मजदूरी अधिक रहती है तथा गाँवों में कम। फिर भी गाँव के श्रमियों की आर्थिक दशा शहर के श्रमियों की आर्थिक दशा से अच्छी रहती है। इसका कारण यह है कि कस्बों या देहातों में रहनेवाले श्रमियों को बहुत-सी सुविधाएँ यों ही प्राप्त रहती हैं, जो बड़े-बड़े शहरों में अधिक पैसा खर्च करने से ही प्राप्त हो सकती हैं।

असली मजदूरी निम्न-लिखित बातों पर निर्भर रहती है—

(१) द्रव्य की क्रय-शक्ति—असली मजदूरी द्रव्य की क्रय-शक्ति पर निर्भर होती है। द्रव्य की क्रय-शक्ति से हमारा अभिप्राय यह है कि द्रव्य की एक इकाई कितनी वस्तुएँ खरीद सकती है। जिस समय सब वस्तुएँ मँहगी हो जाती हैं, उस समय द्रव्य की क्रय-शक्ति बहुत कम होती है। नकदी मजदूरी से मजदूर अपनी आवश्यकता की कम वस्तुएँ खरीद सकेगा। इसके विपरीत यदि वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं, तो द्रव्य की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। उस समय मजदूर अपनी उतनी ही नकदी मजदूरी से अधिक वस्तुएँ खरीद सकता है।

(२) अतिरिक्त काम के लिए अतिरिक्त मजदूरी—यदि एक क्लार्क किसी दफ्तर में काम करता है, और उससे उसकी ड्यूटी के समय के अतिरिक्त यदि अधिक काम लिया जाय और उस अतिरिक्त काम के लिए उसे अलग से और मजदूरी मिले, तो वह भी उसकी वास्तविक मजदूरी में सम्मिलित की जायगी।

(३) मुख्य कार्य के अतिरिक्त सहायक कार्य मिलने का अवसर—एक

श्रमी जो कार्य कर रहा है, उसके अतिरिक्त यदि उसे कोई और सहायक कार्य भी मिल जाता है, तो इस कार्य की मजदूरी भी असली मजदूरी में सम्मिलित की जायगी। जैसे स्कूल के अध्यापक स्कूल में पढ़ाने के अतिरिक्त, यदि ट्यूशन करते और कुछ लड़कों के घर जाकर उन्हें पढ़ाते हैं तो उसकी आय से भी उनकी वास्तविक मजदूरी बढ़ जायगी।

(४) भविष्य में उन्नति की आशा—कुछ नौकरियाँ या पद ऐसे होते हैं जिनमें प्रारम्भ में तो नकद मजदूरी कम मिलती है, लेकिन भविष्य में उन्नति की आशा रहती है। भविष्य की उन्नति की आशा भी श्रमी अपनी वास्तविक मजदूरी में ही गिनता या मानता है। उदाहरण के लिए, सरकारी नौकरियों में पेन्शन मिलती है तथा उन्नति की आशा अधिक रहती है। इसी कारण सरकारी नौकरियों की ओर लोगों का झुकाव अधिक रहता है। सरकारी नौकरी न मिलने पर ही वे प्राइवेट (Private) नौकरी की ओर आते हैं।

(५) स्थिरता—इसका अर्थ है पद का स्थायी होना। एक स्थायी पद पर यदि नकद मजदूरी कम भी मिलती है, तो उसे लोग स्वीकार कर लेते हैं। अस्थायी पद पर मजदूरी अधिक मिलने पर भी लोग उसे जल्दी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि बाद में फिर कुछ दिन बेकार रहने की सम्भावना होती है। इस प्रकार काम के स्थायी होने पर असली मजदूरी बढ़ जाती है।

(६) काम करने का समय तथा स्थान—काम करने का समय तथा स्थान भी वास्तविक मजदूरी से सम्बन्ध रखता है। यदि किसी नौकरी में अवकाश या छुट्टी अधिक मिलती है तथा स्वच्छ वायु में काम करना पड़ता है, जिससे स्वास्थ्य की वृद्धि भी होती है, तो ऐसे श्रमी की वास्तविक मजदूरी अधिक समझी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, एक शिक्षक को अन्य कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक

अवकाश या छुट्टियाँ प्राप्त होती हैं। किसी खान के अन्दर काम करनेवाले मजदूर का स्वास्थ्य खेत की खुली हवा में काम करनेवाले श्रमी की अपेक्षा जल्दी और ज्यादा खराब होता है। इस दृष्टि से खान में काम करनेवाले कुली की वास्तविक मज़दूरी कम होगी। वास्तविक मजदूरी में ये सभी बातें सम्मिलित रहती हैं।

रहन-सहन का दरजा और मजदूरी

हम पहले यह वतला चुके हैं कि रहन-सहन के दरजे से अभिप्राय व्यय तथा व्यय-चातुर्य से होता है। अब हम इस बात का विचार करेंगे कि मजदूरी से इसका क्या सम्बन्ध है।

किसी मनुष्य के रहन-सहन का दरजा उन वस्तुओं पर निर्भर रहता है, जिन वस्तुओं का वह उपभोग करता है। इसी पर उसकी कार्य-क्षमता या कार्य-कुशलता निर्भर रहती है। यदि वह पौष्टिक पदार्थों का उपभोग करता है, तो उसकी कार्य-कुशलता अधिक होती है। कार्य-कुशलता के अधिक होने से उसकी उत्पादन शक्ति अधिक होगी; क्योंकि उत्पादन शक्ति कार्य-कुशलता पर ही निर्भर करती है। उत्पादन शक्ति के अनुसार ही प्रत्येक श्रमी अपनी मजदूरी पाता है। मजदूर नियुक्त करनेवाला उसे इससे अधिक मजदूरी कभी न देगा। मजदूरी इसी नियम के अनुसार निर्धारित की जाती है। जो मज़दूरी एक श्रमी पाता है, उसी से वह वस्तुओं का उपभोग करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रहन-सहन के दरजे और मजदूरी में घनिष्ट सम्बन्ध है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक मजदूर जितनी मजदूरी पाता है, उसी से अपने उपभोग की वस्तुएँ खरीदता है। मान लिया जाय कि उसकी मज़दूरी ३) प्रति दिन है। इसी ३) से वह सब वस्तुएँ खरीदेगा। जिस प्रकार की

वस्तुओं का वह उपभोग करेगा, वैसा ही उसके रहन-सहन का दरजा होगा। यदि उसने अपने व्यय में चातुर्य नहीं दिखाया तो उसकी कार्य-कुशलता में वृद्धि न होगी। कार्य-कुशलता के आधार पर उत्पादकता निर्भर करती है। श्रमी की उत्पादकता के आधार पर ही उसकी मजदूरी निर्धारित की जाती है। जो मजदूरी कोई श्रमी पाता है, उसी से वह अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदकर उनका उपभोग करता है। रहन-सहन का दरजा बढ़ने के साथ-साथ श्रमी की कार्य-कुशलता की भी वृद्धि होती है। कार्य-कुशलता में वृद्धि होने से उसकी मजदूरी भी बढ़ेगी। यदि रहन-सहन का दरजा गिरता है, तो उसकी कार्य-क्षमता भी गिरती है, और इससे उसकी आय में भी कमी हो जायगी।

भिन्न-भिन्न व्यवसायों में मजदूरी

(१) भिन्न-भिन्न व्यवसायों में श्रमियों की मजदूरी एक समान नहीं होती। इसके कई कारण हैं। मुख्य कारण यह है कि एक श्रमी को श्रम करने के योग्य बनाने में जितना अधिक लागत व्यय होता है, उसका फल (Effect) उसकी अधिक मजदूरी निर्धारित करने में समर्थ होता है। उदाहरण के लिए, एक डाक्टर या इंजीनियर का शिक्षा प्राप्त करने में अधिक रुपया और अधिक समय लगता है। इस कारण इन लोगों को मजदूरी भी अधिक मिलती है। साधारणतः मजदूरी पर सीमान्त उत्पादक नियम का प्रभाव पड़ता है। एक डाक्टर या इन्जीनियर अधिक कार्य-कुशल होता है और इसी कार्य-कुशलता के अनुसार उसकी मजदूरी भी अधिक होती है।

(२) श्रमियों की मजदूरी में विभिन्नता होने का दूसरा कारण यह है कि मजदूरी माँग और पूर्त्ति के अनुसार निर्धारित होती है। किसी व्यवसाय में यदि श्रमियों की पूर्त्ति, माँग की अपेक्षा अधिक है तो

उसकी मजदूरी कम हो जायगी। इसके विपरीत यदि किसी व्यवसाय में श्रमियों की माँग उनकी पूर्त्ति से अधिक हुई तो उनकी मजदूरी बढ़ जायगी।

श्रम बहुत ही कम गति-शील होता है; इस कारण श्रमियों में अधिक स्पर्धा नहीं होती। एक स्थान पर जितने श्रमी होते हैं, उन्हीं की स्पर्धा के अनुसार मजदूरी निश्चित होती है। उदाहरण के लिए, एक गाँव में जितने श्रमियों की पूर्त्ति रहेगी, उसी के अनुसार उनकी मजदूरी निश्चित होगी।

(३) कोई काम या व्यवसाय सीखने में यदि अधिक व्यय तथा कठिनाइयाँ होतीं हैं, तो उसी के अनुसार मजदूरी भी अधिक होगी। उदाहरण के लिए, किसी व्यवसाय में यदि अधिक लागत-व्यय होता और कठिनाई का सामना करना पड़ता है, तो उसमें मजदूरी भी उतनी ही अधिक मिलती है।

(४) व्यवसाय का रुचिकर या अरुचिकर होना भी मजदूरी के कम या अधिक होने पर प्रभाव डालता है। व्यवसाय जितना ही अरुचिकर होगी, उतनी ही उसकी मजदूरी भी साधारणतः अधिक होगी। जैसे रेल के इंजन ड्राइवर का काम। लेकिन कुछ व्यवसाय ऐसे हैं, जिनमें व्यवसाय के अरुचिकर होने पर भी श्रमी कम मजदूरी पाते हैं। उदाहरण के लिए, मेहतरों तथा भंगियों की मजदूरी बहुत कम होती है। उनकी मजदूरी कम होने का यह कारण है कि ये लोग अन्य कोई व्यवसाय नहीं कर सकते। इस कारण अरुचिकर कार्य करते हुए भी ये कम मजदूरी पर काम करते हैं।

हमारे देश में मजदूरी

हमारे देश में मिलों और कारखानों में काम करनेवाले श्रमियों की मजदूरी माँग और पूर्त्ति द्वारा निर्धारित होती है। गाँवों में

श्रमियों की मजदूरी पर रीति-रवाज का प्रभाव अधिक रहता है; तथा श्रमियों को मजदूरी रीति-रवाज के विचार से ही दी जाती है। उदाहरण के लिए, हलवाहे, हज्जाम, धोबी, कुम्हार, कहार आदि की मजदूरी आज-कल भी रीति-रवाज के अनुसार ही निश्चित होती है।

हमारे देश में रहन-सहन का दरजा गिरा हुआ होने के कारण श्रमियों की कार्य-कुशलता बहुत कम है। इससे श्रमियों की दशा शोचनीय रहती है। बड़े-बड़े शहरों में निवास-स्थान की कमी होने के कारण एक ही कोठरी में ४–६ मजदूरे रहते हैं। पौष्टिक पदार्थों की बात तो दूर रही, उनको संतुलित भोजन भी प्राप्त नहीं होता।

देश की दशा सुधारने के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। देश की उत्पत्ति में वृद्धि करने से रहन-सहन का दरजा ऊँचा हो सकता है। कांग्रेस सरकार ने जो पंच-वर्षीय योजना चलाई है, आशा की जाती है कि उससे इस क्षेत्र में भी अच्छी सफलता प्राप्त होगी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—मजदूरी शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—श्रमियों को श्रम के लिए जो कुछ पुरस्कार के रूप में दिया जाता है, उसे मजदूरी कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम श्रम के मूल्य को ही मजदूरी कहते है।

२—श्रम की क्या क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर—श्रम की नीचे लिखी विशेषताएँ हैं—

(१) श्रम नाशवान है। यह अन्य वस्तुओं की तरह संचित नहीं किया जा सकता।

(२) श्रम को श्रमी से पृथक् नहीं कर सकते।

(३) श्रमी को श्रम करने योग्य बनाने में कुछ व्यय होता है।

(४) श्रमी पूँजी-पतियों से अपनी मजदूरी निर्धारित कराने में दबता है।

३—मजदूरी किस सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होती है?

उत्तर—मजदूरी सीमान्त उत्पादकता तथा रहन-सहन के दरजे के आधार पर निर्धारित की जाती है। मजदूर को नियुक्त करने-वाला मालिक सीमान्त श्रमी की उत्पादकता का ध्यान रखकर ही सब श्रमियों को मजदूरी देता है। श्रमी अपने रहन-सहन के दरजे के अनुसार मजदूरी की माँग करता है। इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच में मजदूरी निर्धारित की जाती है।

४—असली मजदूरी किन बातों पर निर्भर है!

उत्तर—असली मजदूरी नीचे लिखी बातों पर निर्भर है—

(१) द्रव्य की क्रय-शक्ति,
(२) स्थान और समय की सुविधाएँ,
(३) अतिरिक्त कार्य के लिए अतिरिक्त आय,
(४) सहायक कार्य,
(५) व्यवसाय की स्थिरता और
(६) भावी उन्नति की आशा।

५—नकली और असली मजदूरी का अन्तर बताइए।

उत्तर—जो मजदूरी द्रव्य के रूप में दी जाती है, उसे नकदी मजदूरी कहते हैं। नकदी मजदूरी द्वारा जितनी वस्तुएँ खरीदी जाती हैं, जो अन्य सुविधाएँ मिलती हैं, जो अतिरिक्त आय होती है, और भविष्य में उन्नत की जो आशा होती है, वह सब असली मजदूरी के अन्तर्गत हैं।

६—भारत के मजदूरों की मजदूरी पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है?

उत्तर—ऊपर के प्रकरण में उत्तर दिया जा चुका है।

१८

ब्याज

ब्याज का अर्थ

उत्पत्ति में पूँजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूँजी द्वारा उत्पत्ति में वृद्धि होती है। अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में पूँजी के इसी उपयोग के मूल्य को ब्याज कहते हैं।

कुल ब्याज तथा वास्तविक ब्याज

ब्याज दो प्रकार का होता है—(१) कुल ब्याज (Gross interest) तथा (२) वास्तविक ब्याज (Net interest)

कुल ब्याज—ब्याज बहुत व्यापक शब्द है। इसमें वास्तविक ब्याज के अतिरिक्त और बातें भी सम्मिलित रहती हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) रुपया वापस न मिलने की जोखिम,

(२) प्रबन्ध करने का खर्च,

(३) रुपया वसूल करने की असुविधाएँ और

(४) वास्तविक ब्याज।

(१) रुपया वापस न मिलने की जोखिम—ऋण का लेन-देन करनेवाले महाजनों को इस बात का अनुभव रहता है कि जितना धन ऋण के रूप में दिया जाता है, वह सब पूरा-पूरा वापस नहीं मिलता। जितने लोगों को कर्ज दिया जाता है, वे सब लोग पूरा कर्ज अदा नहीं कर पाते। कुछ कर्जदारों की या तो बीच में मृत्यु हो जाती है या

वे दिवालिये हो जाते हैं। उनके पास कुछ बचता ही नहीं जो वसूल किया जा सके। ऐसी दशा में महाजन वसूल न होनेवाला ऋण सूद के रूप में दूसरे ऋणियों से वसूल करता है। महाजन इसी जोखिम के विचार से सूद की दर अधिक रखता है। जितना अधिक जोखिम या भय रहता है, उतनी ही अधिक सूद की दर रखी जाती है। यही कारण है कि काबुली आगा जो प्रायः गाँवों में केवल व्यक्तिगत जमानत पर कर्ज देते हैं, सूद की दर १००% या इससे भी अधिक रखते हैं।

(२) कर्ज देनेवाले महाजनों के यहाँ कर्ज का हिसाब-किताब रखने के लिए मुनीम, फेरीदार, ऋणपत्र लिखने के लिए मुंशी, बही-खाते, टिकट, स्टाम्प आदि की आवश्यकता होती है। इनकी मज़-दूरी तथा वेतन महाजन को देना पड़ता है। यह सब खर्च महाजन सूद की दर ऊँची करके कर्जदारों से वसूल करता है। यह सारी व्यवस्था कर्जदारों को कर्ज देने के लिए ही की जाती है; इस कारण यह सब खर्च भी कर्जदारों को ही अधिक व्याज के रूप में सहना पड़ता है।

(३) ऋण-वसूली की असुविधाएँ—महाजन को कर्जदारों से कर्ज वसूल करने में बहुत असुविधाएँ होती हैं। कर्ज वसूल करने के लिए महाजन को फेरीदार, कारिन्दे आदि नियुक्त करने पड़ते हैं जो कर्ज-दारों से बार-बार वसूली का तगादा करते रहते हैं। कभी-कभी तो महाजनों को रुपया वसूल करने के लिए कचहरी में नालिश तक करनी पड़ती है। नालिश करने में बहुत कुछ व्यर्थ व्यय भी होता है। इन सब असुविधाओं का ध्यान रखकर महाजन कर्ज देते समय सूद की दर अधिक रखता है। जिस व्यक्ति से कर्ज की वसूली में जितनी अधिक असुविधा की आशंका महाजन को होगी, उतने ही अधिक सूद पर महाजन उस व्यक्ति को कर्ज देगा।

(४) वास्तविक व्याज—कुल व्याज में वास्तविक व्याज भी सम्मिलित रहता है। कुल व्याज में से जोखिम, व्यवस्था का खर्च, ऋण-वसूलीकी असुविधा आदि का व्यय घटाने के बाद जो शेष बचता है, वही वास्तविक व्याज है। वास्तविक व्याज तो केवल पूँजी के उपयोग का मूल्य है। बाकी अंश इस व्याज की वसूली से सम्बन्ध रखता है।यही कारण है कि सरकार को जब कर्ज की आवश्यकता होती है, तब उसे बहुत कम सूद पर और बहुत जल्दी कर्ज मिल जाता है, क्योंकि सरकार ठीक समय पर पूरा व्याज और मूल धन दे देती है। लेकिन व्यक्तिगत साख पर दिये जानेवाले ऋण के व्याज की दर बहुत ऊँची रहती है।

व्याज सम्बन्धी समस्याएँ

व्याज के सम्बन्ध में नीचे लिखी समस्याएँ उपस्थिति होती हैं—

(१) व्याज क्यों देते हैं,

(२) व्याज क्यों लेते हैं और

(३) व्याज की दर किस नियम अथवा सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होती है।

व्याज क्यों देते हैं

हम बतला चुके हैं कि पूँजी के उपयोग से उत्पत्ति में अधिक वृद्धि होती है। आधुनिक युग में बिना पूँजी के उत्पत्ति सम्भव नहीं। उत्पत्ति तथा उपभोग दोनों कामों के लिए पूँजी उधार ली जाती है। पूँजी के उपयोग से जब उत्पत्ति में वृद्धि होती है, तब इस वृद्धि में पूँजी की पूर्त्ति करनेवाला, पूँजी के उपयोग के बदले में कुछ पुरस्कार चाहता है; क्योंकि पूँजी के ही कारण उत्पत्ति में वृद्धि होती है। पूँजी का उपयोग करनेवाला (ऋणी) पूँजी के कारण अधिक

उत्पत्ति कर सकता है, इसलिए उसे ब्याज देने में कुछ भी हिचक नहीं होती। इसी कारण वह ब्याज देता है।

ब्याज क्यों लेते हैं

पूँजी उधार देनेवाले लोग ब्याज लेते हैं। समाज में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो अपनी आमदनी का कुछ भाग बचाकर भविष्य के लिए रखते हैं। आमदनी का कुछ भाग बचाने में लोग कुछ ऐसे सुखों से (जो बचाये हुए भाग से प्राप्त किये जा सकते हैं) वंचित रहते हैं। इस त्याग के लिए कुछ प्रलोभन की आवश्यकता होती है। वह प्रलोभन ब्याज पाने का रहता है। इसके अतिरिक्त पूँजी उधार देनेवाला यह भी देखता है कि पूँजी के कारण उत्पत्ति में वृद्धि हुई है; इसलिए वह अपनी उधार दी हुई पूँजी का ब्याज लेता है।

ब्याज की दर कैसे निर्धारित होती है

पूँजी के उपयोग का मूल्य ही ब्याज कहलाता है। वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्त्ति के जिस सिद्धांत द्वारा निर्धारित होता है, उसी सिद्धान्त के आधार पर ब्याज भी निर्धारित होता है।

पूँजी की माँग

पूँजी की माँग अधिकतर वे लोग करते हैं, जो दूसरों की पूँजी की सहायता से अधिक उत्पत्ति करना चाहते हैं। पूँजी की सहायता से उत्पत्ति में अधिक वृद्धि होती है। उत्पत्ति की उसी वृद्धि में से ब्याज दिया जाता है। ज्यों-ज्यों पूँजी की इकाइयों में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों सीमांत इकाई की उपज में कमी होती जाती है। अन्त में एक सीमा ऐसी आती है, जहाँ पूँजी की इकाई द्वारा बढ़ी हुई उत्पत्ति और पूँजी के बदले में दिया जानेवाला ब्याज दोनों समान हो जाते हैं। इस सीमा के आगे अब पूँजी का उपयोग नहीं होगा; क्योंकि ऐसा करने में उत्पत्ति करनेवाले को लाभ न

होकर घाटा होगा। पूँजी की इकाई की उत्पादकता तथा ब्याज की दर में समानता को ही पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक दूकानदार अपनी दूकान में पूँजी की कुछ इकाइयाँ उधार लेकर लगाता है। प्रत्येक इकाई १००) की है। अब मान लीजिए कि ब्याज की दर ३) प्रति सैकड़े है और वह दूकानदार दूकान की उन्नति के लिए ऐसी १० इकाइयाँ लगाता है। इस प्रकार उसने कुल १०००) दूकान में लगाये। पहले की कुछ इकाइयों से उत्पत्ति में अधिक वृद्धि होगी। बाद की इकाइयों से उपज में क्रमशः कमी होने लगेगी। १० वीं इकाई से उत्पत्ति घटकर केवल ३) हुई थी। इस दसवीं इकाई के लिए ३) ब्याज देना पड़ेगा। इसलिए सैद्धान्तिक रूप से दूकानदार पूँजी की १० वीं इकाई तक का उपयोग कर सकता है।

पूँजी की पूर्त्ति

पूँजी की पूर्त्ति वे लोग करते हैं, जो अपने वर्त्तमान सुखों का त्याग करके भविष्य के सुख के लिए पूँजी बचाते हैं। ब्याज की दर जितनी ही ऊँची होगी, लोगों में पूँजी बचाने की उतनी ही अधिक प्रवृति भी होगी। इस प्रकार बराबर पूँजी की पूर्त्ति होती रहेगी।

इसी माँग (अर्थात् सीमान्त उत्पादकता) तथा पूर्त्ति (अर्थात् वर्तमान सुखों का त्याग) के द्वारा ब्याज की दर निर्धारित होती है।

भारत में ब्याज की दर

हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा ब्याज की दर कुछ ऊँची है। गाँवों में शहरों की अपेक्षा ब्याज की दर बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि गाँवों में पूँजी की माँग उसकी पूर्त्ति की

अपेक्षा बहुत अधिक है। गाँवों में पूँजी उत्पत्ति के लिए ही नहीं, बल्कि उपभोग के लिए भी उधार ली जाती है।

हम पहले बतला चुके हैं कि कुल ब्याज में ऋण वापस न मिलने की आशंका तथा जोखिम, व्यवस्था करने का खर्च, असुविधाओं का विचार और वास्तविक ब्याज सम्मिलित रहता है। गाँवों के महाजनों का सम्बन्ध साख-संस्थाओं (बैंकों) से नहीं रहता। बैंक शहरों में ही होते हैं। अपनी निजी पूँजी से महाजन लेन-देन का काम करते हैं। निज की पूँजी की पूर्त्ति माँग की अपेक्षा कम रहती है। गाँववालों को कर्ज देने में जोखिम और वसूल करने में असुविधा भी अधिक होती है। इन्हीं कारणों से ब्याज की दर बहुत अधिक या ऊँची रहती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—कुल ब्याज तथा वास्तविक ब्याज में क्या अन्तर है ?

उत्तर—कुल ब्याज में वास्तविक ब्याज भी सम्मिलित रहता है। केवल पूँजी के उपयोग के मूल्य को वास्तविक ब्याज कहते हैं। कुल ब्याज में नीचे लिखी बातें भी सम्मिलित रहती है—

(क) जोखिम—ऋण के वसूल न होने का भय तथा जोखिम रहता है।

(ख) व्यवस्था करने का खर्च—ऋण देनेवाला महाजन कर्ज का हिसाब-किताब रखने के लिए बही-खाते, ऋण-पत्र लिखने के लिए मुनीम, मुन्शी आदि का प्रबन्ध करता है; तथा ये सब काम करने-वालों को मजदूरी या वेतन देता है। इन सबका खर्च ब्याज की रकम में से वसूल किया जाता है।

(ग) ऋण वसूल करने की असुविधा—कर्ज वसूल करने में बहुत असुविधाएँ तथा कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं, कर्ज की वसूली के लिए फेरीदार, कारिन्दे आदि नियुक्त करने पड़ते हैं। इन सबकी मजदूरी भी ब्याज में सम्मिलित रहती है। और

(घ) वास्तविक ब्याज।

२—वास्तविक ब्याज की दर किस नियम या सिद्धान्त द्वारा निर्धारित की जाती है ?

उत्तर— जिस प्रकार वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्त्ति द्वारा निर्धारित होता है, उसी सिद्धान्त के अनुसार पूँजी के उपयोग का भी मूल्य निर्धारित किया जाता है। पूँजी की माँग (सीमान्त उत्पादकता) तथा पूँजी की पूर्ति (पूँजी बचाने के लिए होनेवाले त्याग) के द्वारा ब्याज निर्धारित होता है।

३—पूँजी की माँग किन-लोगों द्वारा होती है तथा ब्याज क्यों दिया जाता है ?

उत्तर—पूँजी की माँग उत्पत्ति करनेवालों द्वारा होती है। उत्पत्ति में पूँजी का सहयोग अनिवार्य है; पूँजी से उत्पत्ति में वृद्धि होती है। इसी वृद्धि के कारण उत्पत्ति करनेवाला ब्याज देता है, क्योंकि वह सोचता है कि बिना पूँजी के उत्पत्ति में वृद्धि नहीं हो सकती।

४—पूँजी की पूर्ति कैसे होती है तथा ब्याज क्यों लिया जाता है ?

उत्तर—समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति भी रहते हैं जो अपनी आय का कुछ भाग बचाकर भविष्य के लिए रखते हैं। यही बचाया हुआ धन वे और धन कमाने के लिए उन लोगों को उधार देते हैं जो दूसरों की पूँजी से अपनी उत्पत्ति बढ़ाना चाहते हैं। लोगों को पूँजी इकट्ठी करने के लिए अनेक सुखों का त्याग करना पड़ता है।

इस त्याग के बदले में ब्याज मिलने का प्रलोभन रहता है। प्रस्तुत सुखों के इसी त्याग के बदले में ब्याज लिया जाता है।

५—गाँवों में ब्याज की दर अधिक क्यों रहती है?

उत्तर—गाँवों में पूँजी की माँग उसकी पूर्त्ति से अधिक होती है। इसके अतिरिक्त महाजन को ऋण न वसूल होने का भय भी रहता है और ऋण वसूल करने में उसे व्यय भी अधिक करना पड़ता है। इन्हीं कारणों से गाँवों में ब्याज की दर ऊँची या अधिक रहती है।

१९

लाभ

लाभ का अर्थ

उत्पत्ति के संचालन का कार्य साहसी करता है। उत्पत्ति में होनेवाली जोखिम का भार भी उसी पर रहता है। साहसी उत्पत्ति के अन्य साधनों का सहयोग करके उत्पत्ति करता है। उत्पत्ति के अन्य साधनों को पुरस्कार देने के बाद जो कुछ बच जाता है, वही साहसी का लाभ कहा जाता है। लाभ हमेशा अनिश्चित रहता है; इसी लिए इसे साहस या जोखिम का काम कहते हैं।

लाभ एक शेष भाग रहता है

साहसी लाभ के लिए साहस या जोखिम उठाता है। साहसी जिस वस्तु की उत्पत्ति करता है, उसकी भविष्य में कैसी माँग होगी, इसका अनुमान उसे उत्पत्ति प्रारम्भ करने के पहले ही करना पड़ता है। वस्तुओं के निर्माण में उत्पत्ति के अन्य साधनों का सहयोग होता है। साहसी इन साधनों का मूल्य देकर सहयोग प्राप्त करता है। इन सब साधनों द्वारा जो उत्पत्ति होती है, उसे बेचकर वह आय प्राप्त करता है। इसी आय में से वह प्रत्येक साधन को उसका पुरस्कार चुकाता है। सब साधनों का मूल्य चुकता करने के बाद जो कुछ शेष बचता है, वही साहसी का पुरस्कार होता है, जिसे लाभ कहा जाता है। यदि उत्पन्न की हुई वस्तु की बिक्री का मूल्य सबके पुरस्कार चुकाने के लिए अपर्याप्त होता है, तो वह क्षति या घाटा साहसी पूरा करता है, जिससे उसकी हानि होती है। इस प्रकार सब साधनों का मूल्य चुकाने के पश्चात् जो एक शेष भाग रहता है, वही लाभ है और वही साहसी का पुरस्कार होता है।

कुल लाभ तथा वास्तविक लाभ
(Gross profit and net profit)

जिस प्रकार कुल सूद और वास्तविक सूद में अन्तर है, उसी प्रकार कुल लाभ और वास्तविक लाभ में भी अन्तर होता है। वास्तविक लाभ कुल लाभ का केवल एक भाग है। कुल लाभ में वास्तविक लाभ के अतिरिक्त निम्न-लिखित बातें सम्मिलित रहती हैं।

(१) उत्पत्ति के जो साधन साहसी स्वयं लगाता है, उनका मूल्य—वैसे तो साहसी का काम केवल जोखिम उठाने का रहता है, लेकिन बहुत से व्यवसायों में जोखिम उठाने के अतिरिक्त साहसी उत्पत्ति के अन्य साधनों की पूर्त्ति भी स्वयं करता है; इसलिए कुल लाभ में उत्पत्ति के अन्य साधनों (जैसे भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध) का मूल्य भी सम्मिलित रहता है।

(२) मशीन की घिसाई का व्यय—उत्पत्ति के कार्य में मशीनों या यन्त्रों की आवश्यकता होती है। मशीनों को उत्पत्ति के कार्य में लगाये रहने से उनके कल-पुरजे घिसकर खराब होते हैं; अतः कुल लाभ में मशीनों की घिसाई का मूल्य भी सम्मिलित रहता है।

(३) सरकारी कर तथा बीमे का व्यय—उत्पत्ति करने के लिए सरकार को कुछ रकम कर के रूप में देनी पड़ती है। साथ ही चतुर उत्पादक आकस्मिक आपत्तियों और प्राकृतिक उपद्रवों से बचने के लिए इमारत, मशीन आदि उत्पत्ति के साधनों का बीमा भी करा लेते हैं। सरकारी कर और बीमे की किस्तों का व्यय भी कुल लाभ में सम्मिलित होता है।

(४) एकाधिकार लाभ—एकाधिकार लाभ वह लाभ होता है जो कुछ उत्पत्तियाँ करनेवाले साहसियों को पूर्त्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण प्राप्त होता है। कुल लाभ में से यह एकाधिकार लाभ भी सम्मिलित रहता है।

(४) आकस्मिक लाभ (Chance gain)—कुल लाभ में आकस्मिक लाभ भी सम्मिलित रहता है। आकस्मिक लाभ उस लाभ को कहते हैं जो संयोगवश किसी आकस्मिक घटना के कारण कभी-कभी प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, युद्ध-काल में कुछ वस्तुओं की माँग बहुत अधिक हो जाती है; इस कारण उनकी बिक्री का मूल्य बहुत अधिक हो जाता है। फलतः व्यापारियों तथा निर्माणकर्त्ताओं को कुछ आकस्मिक लाभ भी हो जाता है।

(५) वास्तविक लाभ—कुल लाभ में से उपर्युक्त व्यय घटाने के बाद जो शेष रहता है, वही वास्तविक लाभ या साहसी के साहस का पुरस्कार कहा जाता है। इसे हम एक सारिणी द्वारा इस प्रकार दिखा सकते हैं—

कुल लाभ
साहसी का पुरस्कार अर्थात् वास्तविक लाभ
आकस्मिक लाभ
एकाधिकार लाभ
सरकारी कर तथा बीमे का व्यय
मशीन की घिसाई
उत्पत्ति के साधनों का मूल्य मूल्य

लाभ व्यक्तिगत लगान है

हम ऊपर बतला चुके हैं कि आर्थिक लगान भूमि की उर्वरा शक्ति पर निर्भर होती है। भूमि जितनी ही अधिक उपजाऊ होगी, उतनी ही उसकी उपज (सीमान्त भूमि, की अपेक्षा) अधिक होगी, जिसे आर्थिक लगान कहते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक लाभ भी साहसी की योग्यता तथा कुशलता पर निर्भर करता है।

एक व्यवसाय में जितने साहसी लगे रहते हैं, उनकी व्यक्तिगत योग्यता तथा कुशलता में अन्तर रहता है। जो साहसी जितना ही अधिक योग्य तथा कार्य-कुशल होगा, उसको उतना ही अधिक लाभ होगा। जिस साहसी की योग्यता तथा कार्य-कुशलता अन्य साहसियों की अपेक्षा सबसे कम रहती है, उसको लाभ भी न्यूनतम प्राप्त होता है। ऐसे साहसी को सीमान्त साहसी कहते हैं। सीमान्त साहसी की अपेक्षा दूसरे साहसी को जितना अधिक लाभ प्राप्त होता है, वही उसकी व्यक्तिगत योग्यता और कार्य-कुशलता का लगान है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१—लाभ का क्या अर्थ है ?

उत्तर—उत्पत्ति के अन्य साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी, और प्रबन्ध) को पुरस्कार देने के बाद साहसी या जोखिम उठानेवाले के लिए जो कुछ शेष बच जाता है, वही लाभ होता है।

२—कुल लाभ तथा वास्तविक लाभ में क्या अन्तर है ?

उत्तर—कुल लाभ में वास्तविक लाभ के अतिरिक्त नीचे लिखी बातें सम्मिलित रहती हैं—

(क) कच्चे माल का मूल्य, (ख) मजदूरी, (ग) ब्याज, (घ)

संगठन-कर्त्ता का पुरस्कार, (ङ) सरकारी कर, (च) बीमे का चार्ज, (छ) एकाधिकार लाभ और (ज) आकस्मिक लाभ।

२—'लाभ व्यक्तिगत लगान है।' इसका अर्थ समझाइए।

उत्तर—आर्थिक लगान भूमि पर प्राप्त होता है। भूमि की उर्वरा शक्ति के आधार पर आर्थिक लगान निर्धारित होता है। अधिक उपजाऊ भूमि की उपज तथा सबसे कम उपजाऊ भूमि की उपज के अन्तर को आर्थिक लगान कहते हैं। इसी प्रकार साहसी का लाभ उसकी योग्यता तथा कार्य-कुशलता पर निर्भर करता है। एक साहसी सीमान्त साहसी की अपेक्षा जितना अधिक लाभ प्राप्त करता है, वही उसकी व्यक्तिगत योग्यता तथा कुशलता का लगान है.।